जनवरी-मार्च
January-March

अंक : 102

2020

ISSN : 0976-0024

महिला
Mahila

विधि भारती
Vidhi Bharati

विधि चेतना की द्विभाषिक (हिंदी-अंग्रेज़ी) शोध पत्रिका
Research (Hindi-English) Quarterly Law Journal

(केंद्रीय हिंदी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय के आंशिक अनुदान से प्रकाशित)

प्रधान संपादक
सन्तोष खन्ना
संपादक
डॉ. उषा देव

पत्रिका में व्यक्त विचारों से सम्पादक/परिषद् की सहमति आवश्यक नहीं है।

Indexed at Indian Documentation Service, Gurugram, India
Citation No. MVB-25-26/2020

विधि भारती परिषद्
बी.एच./48 (पूर्वी) शालीमार बाग, दिल्ली-110088 (भारत)
मोबाइल : 09899651872, 09899651272
फ़ोन : 011-27491549, 011-45579335
E-mail : vidhibharatiparishad@hotmail.com, santoshkhanna25@gmail.com
Website : www.vidhibharatiparishad.in

'महिला विधि भारती' पत्रिका

विधि चेतना की द्विभाषिक (हिंदी-अंग्रेज़ी) विधि-शोध त्रैमासिक पत्रिका

E-mail : vidhibharatiparishad@hotmail.com

Website : www.vidhibharatiparishad.in

अंक : 102 (जनवरी-मार्च, 2020)

प्रधान संपादक : सन्तोष खन्ना, **संपादक :** डॉ. उषा देव

बोर्ड ऑफ रेफरीज एवं परामर्श मंडल

1. डॉ. के.पी.एस. महलवार : चेयर प्रो., प्रोफेशनल एथिक्स, नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी, न.दि.
2. डॉ. चंदन बाला : डीन एवं विभागाध्यक्ष, विधि विभाग, जयनारायण व्यास वि.वि., जोधपुर
3. डॉ. राकेश कुमार सिंह : डीन एवं विभागाध्यक्ष, फैकल्टी ऑफ लॉ, लखनऊ विश्वविद्यालय
4. डॉ. किरण गुप्ता : पूर्व डीन एवं विभागाध्यक्ष, फैकल्टी ऑफ लॉ, दिल्ली विश्वविद्यालय
5. न्यायमूर्ति श्री एस.एन. कपूर : पूर्व न्यायाधीश, दिल्ली उच्च न्यायालय, पूर्व सदस्य, राष्ट्रीय उपभोक्ता आयोग, नई दिल्ली।
6. प्रो. (डॉ.) सिद्धनाथ सिंह : डीन एवं विभागाध्यक्ष, विधि विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
7. प्रो. (डॉ.) गुरजीत सिंह : संस्थापक वाइस चांसलर, नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी एवं न्यायिक अकादमी, असम
8. श्री हरनाम दास टक्कर : पूर्व निदेशक, लोक सभा सचिवालय, नई दिल्ली

परिषद् की कार्यकारिणी, संरक्षक : डॉ. राजीव खन्ना

1. डॉ. सुभाष कश्यप (अध्यक्ष)
2. न्यायमूर्ति श्री लोकेश्वर प्रसाद (उपाध्यक्ष)
3. श्रीमती सन्तोष खन्ना (महासचिव)
4. रेनू नूर (कोषाध्यक्ष)
5. श्री अनिल गोयल (सचिव, प्रचार)
6. डॉ. प्रवेश सक्सेना (सदस्य)
7. डॉ. आशु खन्ना (सदस्य)
8. डॉ. पूरनचंद टंडन (सदस्य)
9. श्री जी.आर. गुप्ता (सदस्य)
10. डॉ. उषा टंडन (सदस्य)
11. डॉ. सूरत सिंह (सदस्य)
12. डॉ. के.एस. भाटी (सदस्य)
13. डॉ. शकुंतला कालरा (सदस्य)
14. डॉ. एच. बालसुब्रह्मण्यम् (सदस्य)
15. डॉ. उमाकांत खुबालकर (सदस्य)
16. अनुरागेंद्र निगम (सदस्य)

शुल्क दर

वार्षिक शुल्क 500/-- रुपए
आजीवन शुल्क 5,000/-- रुपए
इस अंक का मूल्य 250/-- रुपए
संस्थागत वार्षिक शुल्क 500/-- रुपए
संस्थागत आजीवन शुल्क 20,000/-- रुपए
डाक शुल्क अलग

अंक 102 में

1.	संपादकीय /	7
2.	भारतीय राष्ट्रिकता विधि : संदर्भ नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 / **डॉ. दिनेश बाबू गौतम**	11
3.	कोरोना-वायरस / **डॉ. वासंती रामचंद्रन**	19
4.	विवाह पूर्व करार (Prenuptial Agreement) : एक अवलोकन / **प्रो. (डॉ.) राकेश कुमार सिंह**	21
5.	महामारी अधिनियम, 1897 आपात स्थिति में कितना पर्याप्त?/ **सन्तोष खन्ना**	25
6.	भारत में पॉस्को एक्ट, 2012 एवं बच्चों का यौन शोषण संरक्षण : समस्या एवं समाधान / **डॉ. श्रीमती राजेश जैन**	29
7.	उग्र राष्ट्रवाद बनाम एक सार्थक पहल / **डॉ. भगवानदास**	33
8.	कोरोना संकट का विधिक एवं सामाजिक विश्लेषण / **प्रो. (डॉ.) बिभा त्रिपाठी**	37
9.	न्यायपालिका और हिंदी : अवरोध और चुनौतियाँ / **प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी**	43
10.	मैं चाहत हूँ / **डॉ. शकुंतला कालरा**	52
11.	राजनीति में आधी आबादी की भागीदारी / **सुजाता प्रसाद**	60
12.	मीडिया संदर्भ सूचना क्रांति एवं सेंसरशिप / **बीरभद्र कार्कीढोली**	64
13.	राष्ट्रवाद की विधिक अवधारणा / **मनीषा गिरी**	72
14.	अनुवाद विधा का जीवन भाष्य नाटक 'सेतु के आर-पार' / **डॉ. साधना गुप्ता**	75
15.	डॉ. प्रवेश सक्सेना का काव्य-संग्रह 'शून्य में खड़ी-खड़ी' / **विशाल पांडेय**	83
16.	Recognition of foreign divorce decree in India and Irretrievable breakdown of marriages : A Socio-Legal Study / **Dr. Raj Kumar**	87
17.	Development of Legal aid Movment in India / **Priyanka Singh**	94

लेखक मंडल

सन्तोष खन्ना : प्रधान संपादक, 'महिला विधि भारती', त्रैमासिक पत्रिका। संसदीय अधिकारी (सेवा-निवृत्त) एवं सदस्य (सेवा-निवृत्त) जिला उपभोक्ता फोरम, राष्ट्रीय राजधानी, दिल्ली

डॉ. दिनेश बाबू गौतम : प्राचार्य, जय बुंदेलखंड कॉलेज ऑफ लॉ, पनारी, ललितपुर (उ.प्र.)

डॉ. वासंती रामचंद्रन : पूर्व अधीक्षक, कलावती शरण अस्पताल, नई दिल्ली, सी-2-16, सहयाद्रि, प्लॉट-5, सेक्टर-12, द्वारका, नई दिल्ली-78, **मोबाइल :** 9818752270

प्रो. (डॉ.) राकेश कुमार सिंह : पूर्व संकायाध्यक्ष एवं विभागाध्यक्ष, विधि संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. श्रीमती राजेश जैन : विशेष कर्त्तव्यस्थ अधिकारी, क्षेत्रीय अतिरिक्त संचालक कार्यालय, उच्च शिक्षा, सागर संभाग, सागर

डॉ. भगवानदास : प्राचार्य, शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जिला सागर (मध्य प्रदेश)

प्रो. बिभा त्रिपाठी : विधि संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

ई-मेल : bibha.tripathi@bhu.ac.in, **Mobile :** 9451587252, 8004929733

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी : पूर्व प्रोफेसर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, 1764, औट्रम लाइंस, डॉ. मुखर्जी नगर, (किंग्ज्वे कैंप), दिल्ली-9 **ई-मेल :** Kkgoswami1942@gmail.com

डॉ. शकुंतला कालरा : पूर्व प्रोफेसर, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संपर्क : एन.डी.-57, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, **मोबाइल :** 9958455392, 9625999798

सुजाता प्रसाद : शिक्षिका, नई दिल्ली, **ई-मेल :** sansriti-sujata@gmail.com

बीरभद्र कार्कीढोली : नेपाली भाषा के प्रतिष्ठित साहित्यकार एवं 'प्रक्रिया' पत्रिका के संपादक, सिक्किम

मनीषा गिरी : (शोधार्थी हिंदी), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

डॉ. साधना गुप्ता : सहायक आचार्य, शासकीय महाविद्यालय, मंगलपुरा टेक, झालावाड़, (राजस्थान) द्वारा : के.एल. गुप्ता : 'एडवोकेट', मंगलपुरा टेक, झालावाड़ (राजस्थान)

ई-मेल : sadhanagupta0306.sg@gmail.com, **मोबाइल :** 9530350325

विशाल पांडेय : शोध छात्र, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Dr. Raj Kumar : Head, Dept. of Law, B.M. University, Rohtak (Haryana)

Priyanka Singh : Asistant Prof. New India Law College, Indore

संपादकीय

आजकल कोरोना वायरस का फैलाव विश्व के प्रत्येक देश में हो चुका है। विश्व के सामान्यतया शक्तिशाली और अति विकसित साधन-संपन्न देश कोरोना वायरस की चपेट में बहुत बुरी तरह फँस चुके हैं कि उन्हें अपने यहाँ लाशों के ढेर का ढंग से अंतिम संस्कार भी करना संभव नहीं लग रहा है। वैश्विक स्तर पर इस प्रकार की मुसीबत अभूतपूर्व है। प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध से यह स्थिति कहीं अधिक भयावह, भयानक और भयंकर है और मानव इतिहास में इस प्रकार के इतने गंभीर और भयावह संकट का पहले शायद ही ऐसा कोई उदाहरण हो।

अभी तक मानव विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तथा अन्य प्रकार की प्राप्त की गई उपलब्धियों पर फूला नहीं समा रहा था परंतु अब इस अदृश्य विषाणु ने बड़े-बड़े शक्तिशाली महानायकों और वैज्ञानिक मनीषियों को घुटनों के बल झुकने को बाध्य कर दिया है और सभी अपने यहाँ बेबस हो अपने नागरिकों को इस विषैले वायरस का निरंतर शिकार होते देख रहे हैं और अपनी-अपनी आँखें नम करने के अलावा उन्हें कोई ओर उपाय नहीं सूझ रहा है।

विश्व के अमेरिका जैसे विकसित और अत्यधिक साधन-संपन्न देश आरंभ में शायद इसलिए नहीं संभल पाए क्योंकि उन्होंने लोगों की तुलना में अर्थ-व्यवस्था को अधिक वरीयता दी। सच तो यह है कि इस महा आपदा से विश्व की अर्थ-व्यवस्था फिलहाल पूरी तरह चौपट हुए बिना नहीं रहेगी। समूचे विश्व में आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के कारण बहुत सारे देशों में जो संपन्नता का उछाल आया था उससे प्रभावित हो वह देश भी आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ अपनाने पर बाध्य हो गए थे जो स्वयं को साम्यवाद और समाजवाद का पलना मानते थे और कोरोना वायरस की भयावहता प्रकट होने से पहले सभी देश यही समझ रहे थे कि अब विश्व में आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण जैसी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। कोरोना वायरस के उत्तर काल में कौन-सी व्यवस्था कारगर होगी, यह तो समय ही बताएगा किंतु अब पहले वाली व्यवस्था तो बिल्कुल वापस नहीं लौटेगी।

फिलहाल कोरोना वायरस के संकट के कारण सभी देशों में शासनों को अत्यधिक सक्रिय होना पड़ रहा है। पहले यह समझा जाता था कि लोगों के जीवन में शासन का दखल कम-से-कम हो परंतु अब तो सरकारों को लोगों को इस विषैले वायरस से बचाने के लिए

जीवन के हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करनी पड़ रही है। अतः उसे आर्थिक क्षेत्र के हर मोर्चे पर सक्रिय होना पड़ेगा। भारत ने आरंभ से ही कोरोना वायरस की भयावहता को भाँप कर आवश्यक कदम उठाने आरंभ कर दिए थे। 22 मार्च, 2020 को जनता कर्फ्यू के बाद 25 मार्च, 2020 को 21 दिन का लॉकडाउन लगाया गया। तत्काल बाद शासन ने एक बहुत बड़ा पैकेज उन लोगों के लिए घोषित किया जिनके पास जीवन को जीने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। सरकारें सभी को राशन उपलब्ध कर, उनके खातों में कैश ट्रांसफर करने और सबके लिए स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराने के लिए युद्ध स्तर पर काम कर रही हैं परंतु भारत की 135 करोड़ जनता की हर जरूरत, हर समय पूरी करना इतना सुगम नहीं है। इसलिए वर्तमान और आने वाला समय गंभीर चुनौतियों के लिए खड़ा है।

भारत की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संरचना को देखते हुए यहाँ शासन को कई प्रकार की जानी-अनजानी चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। सरकार के प्रभावी कदमों के कारण यहाँ आरंभ में कोरोना वायरस के मामलों की संख्या को सीमित रखने में सफलता मिल ही रही थी कि मरकज़ तब्लीगी जमात के कारण दिल्ली में देश-विदेश से एकत्रित हुए लोगों ने जाने-अनजाने समूचे देश मे जा कर कोरोना वायरस से संक्रमित मामलों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है और उनके कारण लॉकडाउन के प्रभाव को कम करने का कार्य किया है। यही नहीं, इन लोगों तथा कुछ अन्य लोगों के कारण लॉकडाउन उतना सफल होता दिखाई नहीं देता, जितनी उसकी आशा की जा रही थी और शायद इस लॉकडाउन की अवधि को आगे बढ़ाना पड़ेगा।

लॉकडाउन की जरूरत और उसके प्रभाव को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता परंतु कुछ लोगों ने अब यह कहना भी प्रारंभ कर दिया है कि भारत जैसे देश की संरचना में लॉकडाउन उतना प्रभावी नहीं रहेगा जितना कि वह दूसरे देशों में हो सकता है। दूसरे देशों की जनसंख्या भारत की जनसंख्या से बहुत कम है और वहाँ लोगों का जीवन स्तर बहुत अच्छा है। लोगों का यह भी कहना है कि भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या ऐसे लोगों की है जो मेहनत-मज़दूरी कर हर रोज़ के लिए अपने खाने-पीने की व्यवस्था करती है और ऐसे लोगों के लिए लंबी अवधि का लॉकडाउन उन्हें भुख़मरी की तरफ धकेल देगा, अगर वह कोरोना से नहीं मरें तो भुख़मरी से मर जाएँगे।

कुछ सीमा तक यह बात सच भी है कि 135 करोड़ वाली विशाल जनसंख्या वाले देश में लंबी अवधि का लॉकडाउन देश की अर्थ-व्यवस्था को तो भारी क्षति पहुँचाएगा ही, प्रवासी मज़दूरों के लिए भी कई प्रकार की मुसीबतें खड़ी करेगा। वैसे लॉकडाउन तो सभी के लिए कठिनाइयाँ पैदा करने वाला ही है और सरकार ने कोई और विकल्प न होने के कारण ही इसे लगाया है जबकि लॉकडाउन को प्रभावी रूप से लगाने की इच्छा से इसे लगाया गया था और प्रधान मंत्री ने 24 मार्च, 2020 के अपने रात नौ बजे के भाषण

में साफ-साफ शब्दों में कहा था कि 'जो जहाँ है, वह वहीं रहे।' सरकार ने उन्हें वहीं पर उनके लिए यथासंभव सुविधाएँ प्रदान करने की योजना बनाई थी, परंतु प्रवासी मज़दूरों ने तभी अपने-अपने गाँवों में जाने की तैयारी कर ली और परिवहन की सभी सुविधाएँ बंद होने के कारण वह अपने बच्चों को ले पैदल ही निकल पड़े। उनको समझाना-बुझाना भी काम नहीं आया और अंततः संबद्ध सरकारों को उन्हें अपने-अपने गाँवों में पहुँचाने की विकट ज़िम्मेदारी निभानी पड़ी और कुछ के लिए जो जहाँ है, वहीं पर उन्हें ठहराने के लिए व्यापक पैमाने पर प्रबंध करने पड़े।

सरकार ने सभी को मुफ्त राशन देने तथा धनराशि देने का भी फैसला किया है और दिया भी जा रहा है परंतु भारत में राशन वितरण की व्यवस्था इतनी कुशल नहीं रही, यद्यपि अभी सभी कार्य युद्ध स्तर पर किए जा रहे हैं किंतु फिर भी इतनी बड़ी जनसंख्या को सभी सुविधाएँ समय और ज़रूरत के हिसाब से मिल पाएगी, ऐसा हो पाना इतना सुगम नहीं है। अब स्थिति यह है कि अधिकांश प्रवासी मज़दूर अपने-अपने घरों में पहुँच गए हैं। इसका अर्थ यह है कि 14 अप्रैल को लॉकडाउन खुलता है तो यह लोग फिर अपने-अपने काम पर लौटना चाहेंगे। वैसे एक अच्छी बात यह है कि प्रायः हर साल इन दिनों कुछ प्रवासी मज़दूर अपने-अपने घर छुट्टी पर जाया करते थे जिसका एक कारण यह होता था कि इन दिनों पूरे देश में फसल कटाई का काम चल रहा होता है, वह उसमें हाथ बँटाने जाते थे। आजकल वह अपने घरों पर हैं। उनमें से कुछ तो फसल कटाई में हाथ बँटा ही सकते हैं। पर इसका एक दूसरा पक्ष यह भी है, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों में असंख्य प्रवासी मज़दूर वहाँ फसल कटाई संबंधी कामों में सहायता देते थे, अब उनके बिना वहाँ फसल कटाई का काम उतनी मुस्तैदी से नहीं किया जा सकेगा। क्या लॉकडाउन खुलने के बाद यह प्रवासी मज़दूर इन राज्यों में जा सकेंगे?

यह सुझाव आया है कि कुछ क्षेत्रों विशेष यथा पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों में लॉकडाउन में ढील दे कर इन प्रवासी मज़दूरों को जाने दिया जाए। उत्पादन वाले एककों में शिफ्ट ड्यूटी लगा कर उत्पादन बढ़ाया जाए।

यह भी कहा जा रहा है कि भारत की 90-95 प्रतिशत जनसंख्या 60 वर्ष से कम आयु की है और कोरोना वायरस युवा वर्ग को कम प्रभावित करता है। अतः लॉकडाउन के संबंध में अगली नीति सोच-समझ कर बनाई जाए। भारत में इस वायरस से संक्रमण से कुछ युवा व्यक्तियों की भी मृत्यु हुई है। अतः आगे की कार्यवाही सभी पक्षों पर विचार करके ही की जानी चाहिए।

पिछले दो सप्ताह से पूरे भारत में लागू लॉकडाउन सभी के स्वास्थ्य और जीवन के लिए अनिवार्य था परंतु लॉकडाउन के कारण परिवारों में उभरती कई समस्याएँ सामने आ रही हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग के अनुसार घरेलू हिंसा के मामलों मे वृद्धि हो रही है। राष्ट्रीय

महिला आयोग ने बताया कि 23 और 30 मार्च, 2020 के दौरान उत्तरी भारत से घरेलू हिंसा की 58 शिकायतें प्राप्त हुई हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग की अध्यक्ष रेखा शर्मा ने बताया कि यह शिकायतें ई-मेल से प्राप्त हुई हैं। उन्होंने यह भी बताया कि सभी महिलाएँ ई-मेल नहीं भेज सकती। इसका अर्थ है कि घरेलू हिंसा के मामले काफी हो रहे हैं। उन्होंने कहा कि महिलाओं को इन शिकायत के लिए पुलिस से संपर्क करना चाहिए।

वैसे घरेलू हिंसा की समस्या केवल भारत में ही नहीं है बल्कि समूचे विश्व की समस्या है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अध्यक्ष एनटोंनियो गुटेरेस ने भी कहा कि हिंसा केवल युद्ध के मैदान में नहीं होती बल्कि आज जब सभी अपने-अपने घरों में बंद रहने के लिए बाध्य हैं तो महिलाओं को बड़े पैमाने पर घरेलू हिंसा का सामना करना पड़ रहा है जबकि इस समय वह घर जैसे सभी से अधिक सुरक्षित स्थान पर हैं। उन्होंने कहा कि विश्व के सभी देशों की सरकारों से अनुरोध है कि वह महिला सुरक्षा पर भी ध्यान दें।

घरेलू हिंसा कोई नई समस्या नहीं है परंतु भारत में वर्ष 2005 में बने घरेलू हिंसा प्रतिषेध कानून का महिलाओं के जीवन पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा, किंतु लॉकडाउन के दौरान सभी परिवारों को इस संबंध में संयम से काम लेना होगा और महिलाओं का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए न कि उन्हें और प्रताड़ित किया जाए। अगर कहीं समस्या गंभीर हो जाती है तो महिलाओं को अपनी समस्या पुलिस को अवश्य बतानी चाहिए।

समस्याएँ तो और भी होंगी, क्योंकि लॉकडाउन कोई सामान्य स्थिति नहीं है परंतु अपने और परिवार के हित में, समाज और देश के हित में सभी को संयत व्यवहार करना चाहिए। प्रकृति ने मनुष्य को बदलने के लिए बाध्य कर दिया है, सभी को प्रकृति के इस संदेश को समझना चाहिए।

❑

डॉ. दिनेश बाबू गौतम

भारतीय राष्ट्रिकता विधि : संदर्भ नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019

भारतीय संविधान भारत में एक संघीय व्यवस्था की स्थापना करता है, किंतु यह इकहरी नागरिकता को ही मान्यता देता है -- भारत की नागरिकता घटक राज्यों की कोई अलग नागरिकता नहीं है। इसके विपरीत अमेरिका में दोहरी नागरिकता है -- एक तो संघ की नागरिकता और दूसरी राज्य की नागरिकता जहाँ व्यक्ति पैदा हुआ हो और स्थायी रूप से निवास कर रहा हो। एकल नागरिकता को मान्यता देकर संविधान में भारत की अखंडता को बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय संविधान पूरे देश के नागरिकों के लिए नागरिकता उपलब्ध कराता है। भारत के संविधान में अनुच्छेद 5 से 11 तक नागरिकता संबंधी प्रावधान किए गए हैं जिसमें भारतीय राष्ट्रीयता क़ानून क्षेत्र के भीतर जन्म के अधिकार के द्वारा नागरिकता के विपरीत काफ़ी सीमा तक रक्त के संबंध के द्वारा नागरिकता प्रदान करता है। भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 भी बड़ा ही प्रासंगिक है क्योंकि यह नागरिकता विधि का एक प्रमुख प्लेटफॉर्म है जिससे प्रत्येक भारतीय की नागरिकता सुनिश्चित की जा सकती है।

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 में समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं। पहला संशोधन सन् 1986 में, दूसरा 1992 में, तीसरा 2003 में किया गया था। इसके अलावा, भारत के राष्ट्रपति द्वारा सन् 2005 में एक अध्यादेश लाया गया था जो काफ़ी प्रख्यात हुआ था जो 28 जून, 2005 में अस्तित्व में आया था। हाल ही में भारतीय संसद द्वारा नागरिकता संशोधन अधिनियम 2019 पारित किया गया है, इसे कई संस्थाओं, समाचार एजेंसियों, धर्म प्रचारकों, बुद्धिजीवियों और देश की 90 प्रतिशत जनसंख्या द्वारा समर्थन प्राप्त है। यह नागरिकता संशोधन क़ानून राष्ट्र विरोधी नहीं है। कुछ चतुर राजनैतिक पार्टियाँ अपने वोट बैंक को साधने के लिए नागरिकता क़ानून पर बेवजह हंगामा कर रही हैं। सरकार का कार्य समतामूलक, धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है। गौतम बुद्ध की विचार धारा व सम्राट अशोक की प्रेरणा बौद्ध धर्म को बढाने की थी। आज नागरिकता क़ानून के तहत बौद्ध धर्म को जो सम्मान प्राप्त हुआ है वह निःसंदेह अग्रणी है।[1]

डॉ. भीमराव अंबेडकर जी ने देश के बँटवारे के समय कहा था कि बँटवारा समानता, स्वतंत्रता के लिए घातक है और सन् 1949 में संविधान सभा के भाषण में कहा था, ''जनतंत्र

को अगर जिंदा रखना चाहते हो तो दृढ़तापूर्वक संवैधानिक रीति अपनाएँ और संविधान ही अच्छे लोकतंत्र के लिए सच्चा मार्ग है।''

भारत विधि-प्रधान देश है क्योंकि संविधान देश की सर्वोत्तम विधि है। विधि का शासन संविधान का अभिन्न अंग है और भारत का लोकतंत्र विश्व के सर्वक्षेष्ठ प्रजातांत्रिक देशों में से एक है। आज देश भारतीय संविधान के लागू होने की 71वीं जयंती मना रहा है। प्रायः किसी भी देश में रहने वाले निवासियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। नागरिक और विदेशी! नागरिक वह व्यक्ति होता है जिसे सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं और ये सब विदेशियों को नहीं प्रदान होते हैं। नागरिकता का अधिकार संविधान में सिर्फ नागरिकों को ही प्राप्त है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 5 अधिवास द्वारा नागरिकता की बात कहता है। इसी बात को **प्रदीप जैन बनाम भारत संघ के मामले में** उच्चतम न्यायालय द्वारा भी अनुच्छेद 5 के अधीन भारत का अधिवास माना है। अनुच्छेद 6 पाकिस्तान को छोड़ कर आए व्यक्तियों की नागरिकता की बात करता है और वे जो 19 जुलाई, 1948 से पहले भारत में आए और वे जो 19 जुलाई, 1958 के बाद भारत आए। उपरोक्त दोनों ही तारीके संविधानिक महत्व के है। 1 मार्च, 1947 के पश्चात् जो लोग भारत से पाकिस्तान चले गए थे उन्हें भारत का नागरिक नहीं समक्षा जाएगा। अनुच्छेद 8 भारत में जन्मे किंतु विदेशों में रहने वाले व्यक्तियों को कुछ शर्तों को पूरा करने पर नागरिकता प्रदान करता है। अनुच्छेद 9 नागरिकता की समाप्ति की बात करता है। अनुच्छेद 10 में संसद द्वारा नागरिकता के अधिकार के विनियमन का प्रावधान है।[2]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : भारत के संविधान के लागू होने से पूर्व नागरिकता संबंधित प्रावधान यह था कि 26 नवंबर, 1949 को भारत के राज्य क्षेत्र में अधिवासित व्यक्ति भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार स्वतः ही भारत के नागरिक बन गए तथा 26 जनवरी, 1950 को अधिकांश प्रावधान अस्तित्व में आए। भारतीय नागरिकता अधिनियम में व्यापक संशोधन किए गए। उसकी धारा-2 में कहा गया कि विदेशी नागरिक से तात्पर्य ऐसे नागरिकों से है जो जन्म से भारतीय नागरिक है लेकिन विदेशों में रहते हैं और जो विनिर्दिष्ट देशों में जाने से पूर्व भारतीय नागरिक थे तथा नई धारा-7(ए) के अधीन विदेशी नागरिक पंजीकृत हैं। चतुर्थ अनुसूची में वर्णित देशों में हैं -- ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, फिनलैंड, फ्रांस, ग्रीनलैंड, आयरलैंड, इजरायल, इटली, नीदरलैंड, पुर्तगाल, साइप्रस, स्वीडन, स्विजरलैंड और अमेरिका आदि।

नागरिकता विधि : भारतीय संविधान में विशिष्ट प्रावधान जैसे अनुच्छेद-14, 19, 20, 21 आदि में प्रदत्त अधिकार विदेशी लोगों को कुछ अधिकार ज़रूर देते हैं लेकिन उन्हें अन्य विधियों में बराबरी का अधिकार नहीं। भारत की नागरिकता हासिल करना किसी भी विदेशी का संविधानिक अधिकार व मौलिक अधिकार नहीं हो सकता। संविधान की एक प्रमुख विशेषता एकात्मकता की है। भारतीय उच्चतम न्यायालय द्वारा **केशवनंद भारती बनाम भारत संघ** के मामले में सवैधानिक पीठ द्वारा कहा गया था कि आधारभूत ढाँचे के उल्लंघन करने वालों को सिर्फ अदालती आदेश

से ही अवैध घोषित किया जा सकता है तथा भारतीय संसद द्वारा बनाए क़ानून केंद्र सरकार के दिशा निर्देशों को मानने के लिए राज्य सरकारें संवैधानिक विधि के द्वारा बाध्य है।[3]

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 : संसद ने 1955 ई. में भारतीय नागरिकता अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अनुसार निम्नांकित में से किसी एक आधार पर नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :

1. **जन्म से** -- प्रत्येक व्यक्ति जिसका जन्म संविधान लागू होने होने के पश्चात् 26 जनवरी, 1950 को या उसके पश्चात् हुआ है भारत के नागरिक नहीं माने जाएँगे।
2. **पंजीकरण द्वारा** -- निम्नांकित वर्ग के व्यक्ति विहित प्राधिकारी के समक्ष स्वयं को रजिस्टर करवा कर भारत की नागरिकता प्राप्त कर सकते है :--
   - I. ऐसे व्यक्ति जो 26 जुलाई, 1947 के बाद पाकिस्तान से आए हैं, उस दशा में भारतीय नागरिक माने जाएँगे जब वे आवेदन पत्र देकर अपना नाम विहित प्राधिकारी के पास नागरिकता रजिस्टर में दर्ज करा लें परंतु ऐसे लोगों के लिए शर्त यह होगी कि आवेदन पत्र देने से पूर्व कम-से-कम 6 माह से भारत में रहते हो तथा उनका या उनके माता-पिता अथवा दादी-दादा का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।
   - II. ऐसे भारतीय जो विदेशों में जाकर बस गए हैं, भारतीय दूतावासों में आवेदन पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।
   - III. विदेशी महिलाएँ, जिन्होंने भारतीय नागरिकों से विवाह कर लिया हो, आवेदन पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेगी।
   - IV. भारतीय नागरिकों के नाबालिग बच्चे।
   - V. राष्ट्र मंडल देशों के नागरिक, यदि वे भारत में ही रहते हों या भारत सरकार की नौकरी कर रहे थे, आवेदन पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते है।[4]
3. **देशीयकरण द्वारा** -- कोई भी विदेशी भारत सरकार को देशीयकरण के लिए आवेदन करके निम्नाकिंत शर्तें को पूरा करने पर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है :
   1. वह किसी ऐसे देश का नागरिक न हो जहाँ भारतीय देशीयकरण द्वारा नागरिक बनने से रोक दिए जाते हों।
   2. वह अपने देश की नागरिकता का परित्याग कर चुका हो और भारत सरकार को इस बात की सूचना दे दी हो।
   3. वह देशीयकरण के लिए आवेदन करने की तिथि से पहले 12 वर्ष तक या तो भारत में रहा हो या भारत सरकार की सेवा में रहा हो। भारत सरकार यदि उचित समझे तो इस अवधि को कम कर सकती है।
   4. अथवा उक्त 12 वर्षों के पहले के कुल 7 वर्षों में से कम से कम 4 वर्ष तक उसने भारत में निवास किया हो या भारत सरकार की नौकरी में रहा हो।
   5. वह एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति हो।

6. वह भारत की किसी प्रादेशिक भाषा या राजभाषा का अच्छा ज्ञाता हो।
7. नागरिकता प्रमाण पत्र मिलने पर वह भारत में रहने का या भारत सरकार की नौकरी करने का अथवा किसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था में जिसका सदस्य भारत भी हो, काम करने का इच्छुक हो।
8. वह राज्यनिष्ठा की शपथ ग्रहण करें।
5. भूमि विस्तार द्वारा -- यदि कोई नया राज्य क्षेत्र भारत का भाग बनता है तो भारत सरकार वहाँ की जनता को भारतीय नागरिकता प्रदान कर सकती है।[5]

भारतीय नागरिक क़ानून, 1955 में जब 1986 में संशोधन किया गया तो उस समय जन्म संबंधी नागरिकता को ले कर कुछ और प्रावधान जोड़े गए जिसके अनुसार 26 जनवरी, 1950 के पश्चात् भारत में जन्मे लोगों को भारत का नागरिक तभी माना जाएगा यदि उसके माता-पिता भारत के नागरिक हों या फिर माता या पिता का नागरिक होना अनिवार्य है। इसी क़ानून में 2003 में फिर संशोधन कर यह प्रावधान किया गया कि 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत में पैदा हुआ व्यक्ति भारत का नागरिक होगा लेकिन उसके माता और पिता दोनों भारत के नागरिक हों या फिर माता या पिता में से एक भारत का नागरिक हो और दूसरा अवैध प्रवासी न हो और प्रवास के सारे क़ानूनी कागजात उसके पास होने चाहिए।

जहाँ तक वंश के आधार पर नागरिकता का संबंध है, अधिनियम, 1955 में प्रावधान था कि 26 जनवरी, 1950 के पश्चात् विदेश में पैदा हुआ व्यक्ति भारत का नागरिक तभी माना जाएगा जिसके माता या पिता दोनों या दोनों में से कोई एक भी भारत का नागरिक हो। 1992 में इस अधिनियम में संशोधन कर यह जोड़ा गया ऐसे बच्चे के पैदा होने के वर्ष भर के भीतर उसे देश के भारतीय दूतावास में रजिस्टर कराया गया हो।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1992 यह क़ानून 1992 में संसद द्वारा पारित किया गया जिसके अंतर्गत प्रावधान यह है कि भारत से बाहर पैदा होने वाले बच्चे को, यदि उसकी माँ भारत की नागरिक है तो उसे भारत की नागरिकता प्राप्त होगी। इससे पूर्व उसी स्थिति में भारत की नागरिकता प्राप्त होती थी, यदि उसका पिता भारत का नागरिक हो।

देशीयकरण द्वारा नागरिकता तभी प्रदान की जाएगी जबकि संबंधित व्यक्ति कम-से-कम 10 वर्ष तक भारत में रह चुका हो; पहले यह अवधि पाँच वर्ष थी।[6]

प्रवासी भारतीयों के बारे में विचार के लिए गठित लक्ष्मीमल सिंघवी समिति की सिफारिश को स्वीकृति देते हुए 9 जनवरी, 2003 के प्रवासी सम्मेलन में भारत सरकार ने दोहरी नागरिकता का वादा किया था। वर्ष 2003 में संसद ने दोहरी नागरिकता (संशोधन) विधेयक 2003 को स्वीकृति प्रदान की। इसके अंतर्गत, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और ब्रिटेन के अतिरिक्त पाँच अन्य देशों (कनाडा, फिनलैंड, आयरलैंड, नीदरलैंड और इटली) के भारतीय मूल के लोगों को शामिल किया गया। दोहरी नागरिकता प्राप्त करने के बाद आठ देशों के प्रवासी भारतीय इस देश के सम्मानित नागरिक होंगे। इस तरह की नागरिकता प्राप्त भारतीयों को भारत में संपत्ति अर्जित

करने और अनुवेश पत्र प्राप्त करने की सुविधा तो रहेगी, लेकिन न तो वे भारत के चुनावों में भाग ले सकेंगे और न संवैधानिक व सैन्य पदों पर आसीन हो सकेंगे।[7]

लोकसभा में 16 अगस्त, 2005 को भारतीय मूल के लोगों को नागरिकता देने कि लिए नागरिकता संशोधन विधेयक को स्वीकृति मिलने के साथ ही विधेयक को संसद की मंजूरी मिल गई पर शर्त यह है कि किसी अपराध में लिप्त या संदिग्ध आचरण वाले प्रवासी भारतीयों को दोहरी नागरिकता नहीं मिल सकेगी। पाकिस्तान और बांग्लादेश को छोड़कर अन्य देशों में 26 जनवरी, 1950 के बाद जाकर बसे भारतीय मूल के सभी नागरिकों को भारत की विदेशी नागरिकता प्रदान करने के बारे में सरकार ने नागरिकता क़ानून, 1955 में संशोधन करने का निर्णय लिया था। अब भारतीय मूल के वे लोग स्वयं या जिनके माता-पिता, दादा-दादी, 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत से चले गए थे अथवा 26 जनवरी, 1950 को भारतीय नागरिक बनने योग्य थे अथवा उस धरती से संबंध रखते थे जो 15 अगस्त, 1947 को भारत का हिस्सा बना और उनके नाबालिक बच्चे जिनकी राष्ट्रीयता ऐसे देश की है, जो दोहरी नागरिकता की अनुमति देता है, प्रवासी भारतीय नागरिक के तौर पर पंजीकरण के योग्य है। दोहरी नागरिकता के आधार पर प्रवासी मतदान में हिस्सा नहीं ले सकते है लेकिन प्रवासियों को भारतीय बीजा या आब्रजन जाँच जैसी कुछ तकनीकी कठिनाओं से मुक्ति मिल जाती है

भारत सरकार ने साढे तीन दशक बाद ऐतिहासिक क़दम उठाते हुए पाक विस्थपितों को नागरिकता प्रदान करने का निर्णय लिया। राजस्थान के बाड़मेर तथा जैसलमेर जिले में रहने वाले विस्थापितों को जनवरी 2004 में नागरिकता प्रमाण-पत्र प्रदान किए गए। नागरिकता नहीं मिलने से हजारों पाक विस्थापित पिछले लंबे अरसे से बुनियादी सुविधाओं से महरूम तो थे ही उन्हें सरकारी औपचारिकताओं को पूरा करने के लिए हर वर्ष परेशान होना पड़ रहा था। पाक विस्थापित संघ ने 1998 में नागिरकता सहित अन्य समस्याओं के लिए मुहिम छेड़ी थी लेकिन नीतिगत फैसले के अभाव में 5 हजार, 452 लोगों के आवेदन अटके हुए थे।[8]

विचारणीय प्रश्न है कि इन अवैध घुसपैटियों को देश से बाहर कैसे निकाला जाएगा। विरोध का आंदोलन राज्य और समाज को नई दिशा दे सकता था। भारतीय संविधान में साफ तौर से कहा गया है कि सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा और हिंसा से दूर रहना भी प्रत्येक नागरिक का मूल कर्त्तव्य है। श्री सैयद अहमद बुखारी, शाही इमाम जामा मस्जिद वरिष्ठ संपादक श्री शकील शम्मी, श्री एम.जे. अकबर और तसलीमा नशरीन आदि[9] जैसे देश के बुद्धिजीवी मुस्लिम समझते हैं कि नागरिकता क़ानून से हमें कोई नुकसान नहीं है।

न्यायालयी दृष्टिकोण

नागरिकता संबंधी विधि के बारे में न्यायालय द्वारा समय-समय पर विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण वादों के माध्यम से अपनी विवकपूर्ण राय दृष्टिगत की है जो इस प्रकार हैं :--

1. **प्रदीप जैन बनाम भारत संघ**[10] मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित

किया कि अनुच्छेद 5 के अधीन अधिवास को मान्यता है। वह भारत का अधिवास और भारत के राज्यों के अधिवास को मान्यता नहीं है। एक राज्य से दूसरे राज्य में निवास से अधिवास नहीं बदलता और न ही नया अधिवास वह अर्जित करता है।

2. योगेश भारद्वाज बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[11] मामले मे उच्चतम न्यायालय ने भारत को एक परंपरागत परिसंघीय राज्य कहा तथा प्रदीप जैन वाद का अनुसरण किया।

3. सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया लि. बनाम रामनरायण[12] मामले मे उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिनिर्धारित किया गया कि ऐसा स्थान किसी व्यक्ति का अधिवास स्थान कहलाता है जहाँ वह स्थायी रूप से निवास कर रहा हो और वर्तमान समय में उसे छोड़ने का कोई इरादा न हो।

4. असलम खॉ बनाम फजल खाँ[13] में कहा गया है कि वह अनुच्छेद 5 के अंतर्गत प्रदत्त मामले में अधिकार का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वतंत्र भारत का कभी भी नागरिक नहीं रहा।

5. लुइस डी रेडेट बनाम भारत संघ[14] मामले में न्यायालय ने कहा कि अवयस्क और अविवाहित स्त्रियॉ स्वतंत्र व्यक्ति नहीं होती तथा अधिवास में परिवर्तन करने में सक्षम नहीं होती।

6. सत्य बनाम तेज सिंह[15] मामले में कहा कि अधिवास की संकल्पना सारे विश्व में एक समान नहीं है, परंतु अधिवास में दो बाते निवास और आशय होना आवश्यक है।

7. शंतो देवी बनाम मंगल सेन[16] मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा कहा गया कि अनुच्छेद 6 व 7 के प्रयोजन के लिए प्रवजन का अर्थ है कि किसी देश में स्थायी रूप से रहने के लिए चला जाना।

8. मम्मू बनाम केरल राज्य[17] मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि एक देश से दूसरे देश में जाने से है।

9. स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन बनाम कॉमर्शियल टैक्स ऑफिसर[18] मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि नागरिक प्राकृतिक व्यक्ति ही हो सकता है कृत्रिम या विधिक व्यक्ति नहीं।

10. ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन बनाम जयजीत सिंह[19] मामले में न्यायालय ने कहा कि शिपिंग कारपोरेशन नागरिक नहीं हो सकता।

11. टाटा इंजीनिरिंग एंड लोकोएटिव कंपनी बनाम-बिहार राज्य[20] मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि विधिक या कृत्रिम व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकता।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019

नागरिकता (संशोधन) विधेयक, 2019 को राष्ट्रपति श्री रामनाथ कोविंद जी ने 12 दिसंबर को मंजूरी दे दी। इसके साथ ही अब यह अधिनियम बन चुका है। इस विधेयक को लोक सभा ने 9 दिसंबर और राज्य सभा ने 11 दिसंबर को अपनी मंजूरी दे दी थी। यह अधिनियम इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा तथा यह धार्मिक प्रताड़ना के पीड़ित शरणार्थियों

को स्थायी राहत देगा। नागरिकता (संशोधन) अधिनियम 2019 में अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान से धार्मिक प्रताड़ना के कारण भारत आए हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई समुदायों के लोगों को भारतीय नागरिक बनाने का प्रावधान है। इसके उद्देश्यों एवं कारणों के कथन में कहा गया है कि ऐसे शरणार्थियों को जिन्होंने 31 दिसंबर, 2014 की निर्णायक तारीख तक भारत में प्रवेश कर लिया है, उन्हें अपनी नागरिकता संबंधी विषयों के लिए एक विशेष विधायी व्यवस्था की ज़रूरत है। अधिनियम में हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई समुदायों के प्रवासियों को भारतीय नागरिकता के लिए आवेदन करने से वंचित न करने की बात कही गई है। इसमें कहा गया है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति नागरिकता प्रदान करने की सभी शर्तों को पूरा करता है, तब अधिनियम के अधीन निर्धारित किए जाने वाला सक्षम प्राधिकारी अधिनियम की धारा 5 या धारा 6 के अधीन ऐसे व्यक्तियों के आवेदन करने पर उनकी नागरिकता संबंधी विषय पर विचार करेगा। नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2019 बनने से पहले भारतीय मूल के बहुत से व्यक्ति जिनमें अफगानिस्तान, बांग्लादेश, पाकिस्तान के उक्त अल्पसंख्यक समुदायों के व्यक्ति भी शामिल है, वे नागरिकता अधिनियम, 1955 की धारा 5 के अधीन नागरिकता के लिए आवेदन करते थे किंतु यदि वे अपने भारतीय मूल का सबूत देने में असमर्थ थे, तो उन्हें उक्त अधिनियम की धारा 6 के तहत प्राकृतिकरण द्वारा नागरिकता के लिए आवेदन करने को कहा जाता था। यह उनको बहुत से अवसरों एवं लाभों से वंचित करता था। इसलिए नागरिकता अधिनियम, 1955 की तीसरी अनुसूची का संशोधन कर इन देशों के उक्त समुदायों के आवेदकों को प्राकृतिकरण द्वारा नागरिकता के लिए पात्र बनाया गया है। इसके लिए ऐसे लोगों को मौजूदा 11 वर्ष के स्थान पर पाँच वर्षों के लिए अपनी निवास की अवधि को प्रमाणित करना होगा। नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2019 में वर्तमान में भारत के कार्डधारक विदेशी नागरिक के कार्ड को रद्द करने से पूर्व उन्हें सुनवाई का अवसर प्रदान करने का प्रावधान है। उल्लेखनीय है कि नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 में संविधान की छठी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले पूर्वोत्तर राज्यों की स्थानीय आबादी को प्रदान की गई संवैधानिक गारंटी की सुरक्षा और बंगाल पूर्वी सीमांत विनियम, 1973 की आंतरिक रेखा प्रणाली के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों को प्रदान किए गए क़ानूनी संरक्षण को बरकरार रखा गया है।

उपसंहार

भारत का संविधान पूरे देश के लिए एक मात्र नागरिकता उपलब्ध कराता है। संविधान में अनुच्छेद 5 से 11 तथा नागरिकता अधिनियम, 1955 के समस्त संशोधनों के तहत नागरिकता विधि में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है तथा न्यायालय द्वारा भी समय-समय पर नागरिकता क़ानून के विभिन्न बिंदुओं को स्पष्ट किया है तथा नागरिकता विधि की प्रासंगिकता को प्रसारित भी किया गया है। नागरिकता क़ानून में बदलाव समय की माँग थी। डॉ. भीमराव अंबेडकर व गांधी जी के सपने साकार हुए हैं। वर्तमान संशोधित अधिनियम, 2019 के माध्यम से यह

अधिनियम 10 जनवरी, 2020 से लागू हो गया है। गरीब, बेसहारा व निर्धन लोग क़ानून से निश्चित ही इस क़ानून से लाभान्वित होंगे क्योंकि 70 वर्षों से एक वर्ग लाभ से वंचित था। ❑

संदर्भ

1. प्रोफेसर बी.एल. फड़िया, भारत का संविधान, साहित्य भवन, शिकंदरा आगरा, पृ. 6-8
2. डॉ. जयनारायण पांडेय, भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, (उत्तर प्रदेश)
3. डॉ. सैय्यद अहमद रिजवान, बुरे नतीजे बाला वेजा विरोध, संपादकीय, जागरण, गुरुवार, 23 जनवरी-2020, पृ. 8
4. राजपूत, जगमोहन सिंह, संवैधानिक मूल्यों की घातक अनदेखी, दैनिक जागरण, झाँसी, संस्करण 13.01.2020
5. वर्मा डॉ. ए.के., नागरिकता क़ानून को सही संदर्भ में देखने से इनकार, दैनिक जागरण, संपादकीय शुक्रवार, 27 दिसंबर, 2019, पृ. 8
6. दीक्षित हृदयनारायण, सत्य होता आंदोलन और अराजकता का भेद, 24 दिसंबर, 2019, पृ. 8
7. अकबर एम.जे., विभाजन की गलतियाँ सुधारने की कोशिश, दैनिक जागरण, झाँसी संस्करण, 25 दिसंबर, 2019, पृ. 8
8. अंबेडकर डॉ. बी.आर. , भारत का संविधान, प्रकाशक बहुजन साहित्य प्रसार केंद्र, बेलन रोड, नागपुर, नागरिकता, प. 35-36
9. गौतम डॉ. मुंशीलाल , भारत का संविधान, प्रकाशक : संबोधि प्रकाशन, भामटी, नागपुर, पृ. 3-4
10. पांडेय प्रो. जी.एस., भारत का संविधान, प्रकाशक यूनिवर्सिटी बुक हाऊस (प्रा.) लि., 79, चौड़ा रास्ता, जयपुर, नागरिक, पृ. 60-69
11. AIR 1984, SC-729
12. AIR 1991, SC-357
13. AIR 1955, SC-36
15. AIR 1955, SC-3
17. AIR 1991, SC-1886
18. AIR 1975, SC-105
19. AIR 1961, SC-58
20. AIR SC, 1614
24. AIR 1963, SC-1811
25. AIR 1914, SC-1451
26. AIR 1965, SC-40
27. AIR 1969, SC-1100
28. AIR 1983, SC-937

डॉ. वासंती रामचंद्रन

कोरोना-वायरस

वर्तमान समय में 'नॉवेल -- कोरोना -- वायरस' के प्रकोप से मानव-जाति गुजर रही है। तीव्र गति से इसके फैलने का एक महत्त्वपूर्ण कारण विकास और प्रगति भी है जिसके चलते यातायात के साधन व संचार व्यवस्था का विकसित रूप का सामने आना भी मायने रखता है। इस विनाशकारी महामारी के कारण कई लोग काल-कवलित हुए हैं, आर्थिक क्षति हुई है, सामाजिक अशांति फैली है, चारों तरफ हाहाकार मचा है।

दिसंबर 2019 के अंत में चीन के वुहान क्षेत्र के सुविधापूर्ण स्वास्थ्य-केंद्रों में ऐसे रोगी झुंड में एकत्र हुए जिन्हें न्यूमोनिया हुआ और कारण का पता भी नहीं चला। अचानक इस रोग ने महामारी का रूप ले लिया जिसका संबंध वुहान के व्यापार संस्थानों से था जहाँ समुद्र से उपलब्ध खाद्य-पदार्थ एवं थोक में बिकने वाले गीले जानवरों के अंगों से था।

'नॉवेल -- कोरोना -- वायरस' रोगियों के श्वास-तंत्रों के निचले हिस्से से प्राप्त नमूनों में विद्यमान थे। इसे विश्व-स्वास्थ्य संगठन द्वारा 11 फरवरी, 2020 को कोविड-19 (कोरोना -- वायरस डिजीज 2019) नाम दिया गया। वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह सिंगल-स्ट्रैंड आर. एन.ए. जीनोम है। यह बीटा-कोरोना -- वायरस की जाति का है और 'कोरोनाविरिडी' परिवार से है। यही वायरस (विषाणु) इस रोग का उत्तरदायी है। उष्मायन -- अवधि (इन्क्यूबेशन पीरियड) -- 2-7 दिन।

किस प्रकार फैलता है ये रोग?

सीधे संपर्क द्वारा : जैसे हाथ मिलाने से, चुंबन से या गले मिलने से। रोगी के खाँसने, छींकने, साँस लेते समय उसके सामने बैठने से उसके मुँह, नाक, श्वास से निकले स्त्राव की बूँदे वायु द्वारा संक्रमित होती हैं। मुख्य रूप से उन वस्तुओं को (जैसे दरवाजों के हैंडल, टेबल, कुर्सी, बर्तन, कपड़े इत्यादि) जिसे रोगी ने अपने हाथों से स्पर्श किया हो, उसके बाद उन्हें यदि स्वस्थ व्यक्ति ने छुआ तो संक्रमण फैल सकता है। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं पर विद्यमान वायरस कुछ अधिक समय तक (लगभग 7 दिनों तक या अधिक) जीवित रहता है।

लक्षण : बुखार, खाँसी, जुकाम के साथ बलगम का निकलना। माँस-पेशियों में दर्द।

अत्यधिक थकान। गले में दर्द और जलन।

समस्या : तीव्र रूप से श्वास-तंत्र प्रभावित, जिससे साँस लेने में कठिनाई। हृदय की धड़कन का अनियमित हो जाना। गुर्दों का काम करना बंद हो जाना।

निदान : कोरोना-वायरस के आक्रमण को किस तरह पहचाना जा सकता है? यदि किसी व्यक्ति को जबरदस्त खाँसी, जुकाम अचानक ही हो जाए और वह व्यक्ति चौदह दिनों के आसपास चीन की यात्रा करके आया हो, तो उस पर इस 'वायरस' के आक्रमण का संदेह किया जा सकता है। ऐसे आक्रमण के संदेह होने पर उसका प्रयोगशाला में डॉक्टरी सलाह लेकर विभिन्न प्रकार के जाँच का होना अनिवार्य है तब किसी ठोस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। श्वास-तंत्र के नेसोफेरिन्जियल भाग से नमूना लेकर, मुँह के ओरोफेरिंजियल भाग से नमूना लेकर 'वायरस' का पता लगाने के लिए अध्ययन करना होगा।

रक्त के जलीय अंश (सीरम) की जाँच/विश्लेषण

उपरोक्त जाँचों के लिए फाहों से लिए नमूने, रोगी के थूक व सीरम का लेना आवश्यक।

रोकथाम : चूँकि हम छींकते/खाँसते समय हथेलियों का उपयोग करते हैं इसलिए उन्हें साफ रखना अनिवार्य है। जहाँ तक हो सके हाथों को बार-बार धाएँ। किसी स्थान पर यह सुविधा उपलब्ध न हो तो अल्कोहल से बने 'हैंड-सेनीटाईजर' का प्रयोग करें। ऐसा करने से हाथ अधिक समय तक गीला नहीं रहता। इसके प्रयोग से तौलिए से हाथ पोंछने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि खाँसी करते समय या छींकते समय शिष्टाचार बरतें। किसी के मुँह के ऊपर न खाँसें, रूमाल या टिशू का प्रयोग करें। शीघ्रातिशीघ्र इस रोग को पहचानें, डॉक्टर की सलाह लेकर आवश्यक जाँच करवाएँ। स्वयं की सुरक्षा की ओर ध्यान दें, भीड़ में जाते समय 'मास्क' का प्रयोग करें। स्वास्थ्यकर्ताओं का 'मास्क' पहने रखना नितांत आवश्यक है। किसी को जुकाम/खाँसी हो तो ऐसे व्यक्ति से संपर्क करने से पहले स्वयं को बचाएँ, उनसे कम से कम छः फीट की दूरी बनाए रखें। अनावश्यक रूप से हाथ मिलाने। गले लगने से बचें, नमस्ते करना ही पर्याप्त है। पोषणयुक्त भोजन करके शरीर की इम्युनिटि बढ़ाएँ। धुले/गीले कपड़ों को धूप में सुखाएँ। बाहर पहनने के कपड़ों को अलग रखें, घर आने पर उसे धूप में डालें। किसी भी रोग को रोकथाम की सशक्त विधियों द्वारा जीता जा सकता है।

❑

प्रो. (डॉ.) राकेश कुमार सिंह

विवाह पूर्व करार (Prenuptial Agreement)

विवाह रूपी संस्था का अस्तित्व सभी ज्ञात मानव समाजों में रहा है। यह अलग बात है कि कहीं इसकी प्रकृति संविदा की रही है तो कही संस्कार की। हिंदू विधि के अंतर्गत इसे संस्कार माना गया है जबकि मुस्लिम विधि में विवाह को एक संविदा का रूप प्रदान किया गया है।[1] क्रिश्चियन विधि में भी इसे संविदा माना गया है जबकि पारसी धर्म में इसे संस्कार का रूप दिया गया है। रोमन विधि में भी विवाह को एक संविदा ही माना गया है। लेकिन प्रस्तुत प्रकरण में विवाह पश्चात् नहीं बल्कि विवाह पूर्व संविदा की चर्चा का उल्लेख किया जा रहा है।

आज हम जिस समाज में रह रहे है वहाँ किसी भी संबंधों का होना और न होना मिनटों की बात है। जीवन के कब और किस मोड़ पर किस तरह संबंध समाप्त हो जाए, कोई कुछ कह नहीं सकता है। विवाह रूपी बंधन भी इससे अछूता नहीं रहा है। भारत में एक समय हिंदू विवाह को कभी न टूटने वाला संबंध माना जाता रहा है। इतना ही नहीं, इसे सात जन्मों का संबंध कहा जाता है। लेकिन बदलते परिवेश में इसकी सार्थकता कहाँ तक सही है, यह एक अलग मुद्दा है। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि बदलते सामाजिक परिवेश में इस विवाह रूपी संस्था पर भी अनेक प्रहार हो रहे हैं। अब पति परमेश्वर नहीं रह गया है साथ ही पत्नी भी उस रूप में अब अर्द्धांगिनी भी नहीं रह गई है।

उल्लेखनीय है कि सभी व्यक्तिगत विधियों में पति-पत्नी के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है लेकिन उन कर्त्तव्यों के न किए जाने की दशा में किसी भी प्रकार के उपचार की व्यवस्था नहीं की गई थी। भारतीय समाज में शुरूआत से ही पर्दा पद्धति लागू होने के कारण विवाह पूर्व संविदा की संकल्पना करना ही असोचनीय विषय रहा था। लेकिन बदलते परिवेश में अब स्थितियाँ बिल्कुल बदल गई है।

विवाह-पूर्व करार (Prenuptial Agreement) : विवाह-पूर्व करार वास्तव में पाश्चात्य देशों की संकल्पना की देन है। लेकिन अब यह विश्व के सभी देशों में फैल रहा है। विवाह पूर्व करार से आशय ऐसे करार से है जो विवाह के पक्षकारों द्वारा विवाह पूर्व संपादित किए जाते हैं। इस करार में पक्षकारों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उल्लेख होता है खासतौर से उनके

आर्थिक मामलों (financial matters) से संबंधित जैसे दोनों पक्षकारों की संपत्तियों का ब्यौरा, विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया और बच्चे के दत्तक ग्रहण एवं बच्चे तथा पत्नी के भरण-पोषण से संबंधित दोनों पक्षकारों की सहमति से शर्तें इत्यादि को उल्लेख होता है।

विवाह-पूर्व करार के पीछे प्रेरक बल यह होता है कि विवाह पश्चात् किसी भी संभाव्य घटना की अनिश्चिता की स्थिति को रोकता है। यह विवाह पूर्व प्राप्त हुई धन एवं सम्पत्ति की रक्षा करता है, पति-पत्नि के ऋणों को सुरक्षा प्रदान करता है, पारिवारिक व्यवसाय की संरक्षा करते हुए वृत्तिक व्यवसाय को जारी रखने में सहायक होता है और बच्चे को संरक्षा प्रदान इत्यादि अनेक प्रकार से सहायता करता है। अर्थात् यह एक प्रकार का ऐहतियाति (precautionary) उपाय है जो भविष्य में अनिश्चित घटना होने पर सहायक सिद्ध होता है।

मेहर एक विवाह-पूर्व करार : प्राचीन समय से ही मुस्लिम विधि में मेहर को विवाह का एक अभिन्न अंग माना गया है। मेहर वह धनराशि या संपत्ति होती है जो पति के द्वारा पत्नी को विवाह के बाद देय होती है जबकि इसका करार विवाह-पूर्व होता है। इसका एक उद्देश्य मुस्लिम पति के तलाक के असीमित एवं अप्रतिबंधित अधिकार पर किसी सीमा तक अंकुश लगाना भी होता है। साथ ही तलाक होने की स्थिति में पत्नी को असहाय एवं दरिद्र होने से भी बचाता है।

जैसा की उपरोक्त में कहा गया है कि मुस्लिम विवाह ही प्रकृति एक संविदा की है जिसमें एक पक्षकार करार करता है और दूसरा उसे कबूल कर उसमें अपनी स्वतंत्र सहमति व्यक्त करता है। अतः प्रारंभ से ही मुस्लिम विधि में मेहर का प्रावधान विवाह पूर्व करार का सबसे सर्वोतम उदाहरण रहा है।

विवाह पूर्व करार (Prenuptial Agreement) के लाभ : विवाह पूर्व करार का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि विवाह-विच्छेद की स्थिति में यह पति-पत्नी के संपत्ति संबंधी मामलों के विवादों को निपटाने में सहायक सिद्ध होता है। विवाह-विच्छेद के ज़्यादातर मामले व्यक्तिगत विधियों से शासित किए जाते हैं जैसे हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, मुस्लिम व्यक्तिगत विधि एवं मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939, भारतीय क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872 तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 तथा पारसी विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 इसके अतिरिक्त विशेष विवाह अधिनियम, 1954।

उपरोक्त के ज़्यादातर अधिनियम आपसी धर्म पर आधारित विवाह एवं विवाह-विच्छेद के मामलों से संबंधित है। उक्त के अतिरिक्त विवाह पूर्व करार इन सभी में काफ़ी कारगर साबित हो सकते हैं क्योंकि ये पक्षकारों के आपसी सहमति से विवाह पूर्व सोच-समझकर बनाए जाते हैं जो कि आपसी बराबरी से शासित होते हैं।

विवाह पूर्व करार से पारिवारिक न्यायालयों को भी विवाह, विवाह-विच्छेद, संरक्षकता एवं भरण-पोषण से संबंधित मामलों को निपटाने में भी काफ़ी कारगर साबित हो सकते हैं। इससे न्यायालयों को काफ़ी कम समय में उक्त मामलों को निपटाने में भी मदद मिलती है।

भारत में विवाह पूर्व करार की वैधानिकता : भारत के विधि-विशेषज्ञ विवाह पूर्व करार की वैधानिकता से इनकार करते हैं क्योंकि कोई भी करार जो लोक नीति के विरुद्ध है, वह लागू नहीं हो सकती है। अतः विवाह पूर्व करार को न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं कराया जा सकता है। साथ ही हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, मुस्लिम व्यक्तिगत विधि एवं मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939, भारतीय क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872 तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 तथा पारसी विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 इसके अतिरिक्त विशेष विवाह अधिनियम, 1954 में भी विवाह पूर्व करार को मान्यता एवं इसका उल्लेख नहीं किया गया है। भारतीय व्यक्तिगत विधियाँ विवाह एवं इसके शर्तों का तो उल्लेख करती है लेकिन उन शर्तों में कही भी विवाह पूर्व करार का उल्लेख नहीं करती है। अतः यह बाध्यकारी नहीं होती है। उसी प्रकार से भारतीय संविदा विधि 'करार' एवं इसके आवश्यक तत्वों को उल्लेख करती है लेकिन करार में कही भी विवाह पूर्व करार का उल्लेख नहीं मिलता है।

लेकिन उपरोक्त किसी बात के होते हुए भी इस बात से इनकार नही किया जा सकता है कि यदि हम प्राचीन से लेकिन कुछ दशकों पूर्व की परंपरा को देखें तो विवाह के लिए वर व वधू पक्ष के रिश्तेदार एवं माता-पिता विवाह पूर्व विवाह से संबंधित कई चीजों का करार करते है। कई चीजों पर सहमति एवं असहमति बनती है और अंत में उन करारों के पूर्व होने पर विवाह संपन्न होता है। लेकिन उपरोक्त सभी करार मौखिक रूप से किए जाते है जो कुछ ही लोगों के बीच सीमित होता है। उन करारों का बाध्यकारी प्रभाव दोनों परिवारों के बीच देखने को मिलता है। गाँवों एवं दूर-दराजों के इलाकों में आज भी विवाह पूर्व करार को सरपंच या अन्य माध्यम से भी प्रवर्तनीय कराया जाता है। ये सभी चीजें इस बात की तरफ इंगित करते हैं कि भारतीय समाज में विवाह पूर्व करार प्राचीन समय से ही अपनी जड़े फैला चुके हैं। लेकिन उसे अभी तक विधि द्वारा प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया है।

विवाह पूर्व करार की वैधानिकता अन्य देशों में : अमेरिका में विवाह-पूर्व करार वैधानिक होते हैं यदि वे कुछ औपचारिक प्रक्रियाओं का पालन करते हैं। अतः अमेरिका में विवाह पूर्व करार बहुत सामान्य है। लेकिन एक समस्या जो विवाह पूर्व करार के संबंध में अमेरिका में है वह है कि अमेरिका के अंदर अलग-अलग 50 राज्य है और प्रत्येक राज्य के अपने-अपने क़ानून विधियाँ और प्रथाएँ हैं। कुछ राज्यों ने विवाह पूर्व करार को अपने विधियों में भी शामिल कर लिया है।[2] एक समान विवाह पूर्व संविदा विधि, 1983 (Uniform Prenuptial Agreement Act, 1983) जो कि पूरे अमेरिका में विवाह पूर्व संविदा को शासित करता है। ज़्यादातर राज्यों ने कुछ बदलाव के साथ अपने-अपने राज्यों से इसे लागू किया है। यह अधिनियम तभी लागू होता है जब कुछ विधिक शर्तें पूर्ण होती हैं :

1. विवाह पूर्व करार लिखित रूप में हो।
2. विधिक सलाहकारों से राय-मश्विरा की गई हो।
3. विवाह विधिपूर्वक रूप से संपादित हो और विवाह पूर्व करार लोकनीति के विरुद्ध न हो।

इग्लैंड : इग्लैंड के समाज में विवाह पूर्व करार को पहले वैध करार नहीं माना जाता था।[3] लेकिन पति-पत्नी को संपत्ति या अन्य मामलों में उपचार देने के लिए मैटीमोनियल क्लाजेज एक्ट का सहारा लिया जाता था।[4] सन् 2014 में इग्लैंड के लॉ कमीशन ने अपनी रिपोर्ट का प्रकाशन किया जिसमें क्वालिफाइंग नेपच्युल एग्रीमेंट (Qualifying Nuptial Agreement (QNA) की बात की गई है जिसमें कहा गया है कि पति-पत्नी विवाह पूर्व (QNA) बनाए जिसमें कि अपनी संपत्ति का विवरण दे।[5] हालाँकि यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इग्लैंड के न्यायालय (QNA) से बाध्य नहीं होगी। हाल के वर्षों में इग्लैंड की संसद में इस आशय एक प्राइवेट बिल प्रस्तुत किया गया है जिसमें कि QNA को बाध्यकारी बनाने की बात की जा रही है जिस पर अभी भी चर्चा जारी है।[6] पूरी संभावना है कि उक्त बिल संसद में पास हो जाएगा और इग्लैंड के समाज में विवाह पूर्व करार को बाध्यकारी माना जाने लगेगा।

चीन : चीन में लिखित विवाह पूर्व करार को बाध्यकारी माना गया है। अनुच्छेद 19 के विवाह विधि के पीपुल रिपब्लिक ऑफ चाइना, 2001 में स्पष्ट कहा गया है कि पति-पत्नी अपने विवाह पूर्व करार में यह उल्लेख कर सकते हैं कि विवाह रूपी संविदा के दौरान या विवाह के पूर्व कमाई जाने वाले संपत्ति दोनों की अपनी होगी या अलग-अलग होगी।[7]

निष्कर्ष

अंत में यह कहा जा सकता है कि समय आ गया है जब भारतीय परंपराओं के अनुरूप विवाह पूर्व करार को वैधानिक मान्यता दी जाए, साथ ही संसद और न्यायपालिका इस बात पर ज़ोर दे कि विवाह के पक्षकार विवाह पूर्व करार पर सहमत हो और उसी के अनुसार विवाह-विच्छेद या विवाह में अन्य त्रुटि होने पर मामले का निपटारा किया जा सके। न्यायालय विवाह के पक्षकारों के बीच हस्तक्षेप करे या अपने निर्णय को पक्षकारों पर थोपे इससे बेहतर है कि पक्षकार स्वयं आपने आपको अपने करार से बाध्य कर ले। इससे न्यायालयों का बहुमूल्य समय भी बचेगा, साथ ही विवाह के पक्षकारों को सौहार्दपूर्ण वातावरण में वैवाहिक उपचार भी मिल सकेगा। ❑

संदर्भ

1. अमीना बनाम हसन् कोया, ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 2496
2. Amberlynn Curry, The Uniform Premarital Agreement Act and its Variations throughout the States, 23 Journal of the American Academy of Matrimonial Lawyers 355, 356 (2010)
3. Law Commission (United Kingdom), Matrimonial Property Agreements, Consultation Paper No. 198, Part 4 (2011).
4. Matrimonial Causes Act, 1973, §§21-25 (United Kingdom).
5. Law Commission (United Kingdom), Matrimonial Property, Needs and Agreements, Consultation Paper No. 343, February 27, 2014.
6. Parliament of United Kingdom, Divorce (Financial Provision) Bill (HL) 2017-19, available at https://services.parliament.uk/bills/2017-19/divorcefinancialprovision.html
7. Marriage Law of the People's Republic of China, 2001, Art. 19 (China).

सन्तोष खन्ना

महामारी अधिनियम, 1897 आपात स्थिति में कितना पर्याप्त?

कोरोना वायरस महामारी को ध्यान में रखते हुए विश्व के कई देशों में या तो आपात स्थिति घोषित कर दी गई है या आपात स्थिति जैसे हालात पैदा हो गए हैं। अब तक इस वायरस ने विश्व के सभी देशों में अपना फन फैला दिया है। चीन के बाद इटली और विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली देश अमेरिका सबसे अधिक प्रभावित देश हैं। पूरे विश्व में इससे अब तक अस्सी हजार से अधिक लोगों की मृत्यु हो चुकी है और लाखों लोग इससे संक्रमित हैं। भारत बहुत पहले से इस वायरस से बचाव के प्रयास कर रहा था और इससे प्रभावित देशों से अपने नागरिकों को वापस लाने के लिए सक्रिय था और विदेश से आने वालों की एयरपोर्ट पर जाँच भी की जा रही थी और उन्हें क्वारेंटाइन में रखा जा रहा है।

भारत में पहला मामला केरल में सामने आया था। धीरे-धीरे बढ़ कर 31 मार्च, 2020 तक भारत में संक्रमित लोगों की संख्या लगभग 2,500 से अधिक होने जा रही है। संक्रमण से कई लोग काल-कवलित हो चुके हैं।

भारत में आरंभ से ही लोगों को कोरोना वायरस के बारे में जागरुक किया जा रहा है और सभी को आवश्यक सावधानियाँ बरतने की सलाह दी जा रही है। 19 मार्च, 2020 को प्रधान मंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने राष्ट्र के नाम अपने संदेश में देश के लोगों को इस महामारी के खतरों से आगाह करते हुए कहा है कि कोई भी यह न समझे कि उसे कुछ होने वाला नहीं है। यह महामारी न धर्म देखती है न जाति-पाति, न ही आयु को देखती है। हाँ, यह अवश्य है कि वयोवृद्ध नागरिकों को इससे अधिक बचने की आवश्यकता है क्योंकि उनमें रोग-रोधक क्षमता युवा वर्ग से अपेक्षाकृत कम होती है। प्रधान मंत्री ने अपने भाषण में सभी को सावधान करते हुए संकल्प और संयम के महत्व को रेखांकित करते हुए 22 मार्च को जनता कर्फ़्यू का आह्वान किया था अर्थात् सभी लोग इस दिन अपने घर में ही रहें। प्रधान मंत्री ने सभी को चेतावनी देते हुए कहा कि इस महासंकट के लिए सामूहिक चेतना, सामूहिक प्रयास और सामूहिक सहयोग की आवश्यकता होगी। आने वाले दिन अनिश्चित भविष्य की

ओर संकेत कर रहे हैं। ऐसे में आगे चल कर भारत में इस महामारी का सामना करने के लिए सरकार को कई और सख्त क़दम भी उठाने पड़ सकते हैं जो भारत जैसे लोकतांत्रिक मिजाज के देश को नागवार लग सकते हैं; पर देश को किसी भी भयावह स्थिति से निपटने के लिए तैयार तो रहना ही होगा। हुआ भी यही, 23 मार्च, 2020 से देश के 75 जिलों में लॉकडाउन किया गया है या कर्फ़्यू लगा दिया गया। 25 मार्च, 2020 को पूरे भारत में 21 दिन के लिए लॉकडाउन कर दिया गया। क्या भारत में ऐसी किसी भयावह स्थिति से निपटने के लिए समुचित क़ानून बने हुए हैं? 19 मार्च, 2020 को लोक सभा में कोरोना वायरस संबंधी चर्चा के दौरान कांग्रेस सांसद एवं पूर्व केंद्रीय मंत्री श्री मनीष तिवारी ने इस बात की ओर सदन का ध्यान दिलाया कि भारत का महामारी रोग क़ानून बहुत पुराना है जिसे 1987 में लागू किया गया था।

कोरोना वायरस से उत्पन्न भयावह स्थिति में यह क़ानून बिल्कुल भी पर्याप्त नहीं है। महामारी रोग अधिनियम, 1897 क़ानून तत्कालीन मुंबई में फैली बुबोकिन (ताऊन) प्लेग से उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए बनाया गया था। इस क़ानून के द्वारा किसी महामारी के फैलने पर रोकथाम लगाने के लिए विशेष अधिकारों का प्रावधान किया गया है। केंद्र सरकार ने मार्च 2020 के आरंभ में ही राज्य सरकारों से कहा था कि महामारी अधिनियम, 1897 के प्रावधानों के अंतर्गत इस वायरस को रोकने के उपाय किए जाएँ। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस क़ानून के प्रावधान इतने कारगर हैं कि इनके अंतर्गत कोरोना वायरस जैसी भयंकर महमारी को रोका जा सके?

महामारी अधिनियम, 1877 के प्रमुख प्रावधान

केंद्र के मंत्रियों के Group of Ministers की एक उच्च-स्तरीय बैठक में यह निर्णय किया गया कि सभी राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों को महामारी अधिनियम, 1897 की धारा 2 के प्रावधानों को लागू करना चाहिए ताकि मंत्रालय/राज्य/संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा समय-समय पर जारी की जाने वाली सलाह को उचित रूप से लागू किया जा सके।

महामारी अधिनियम, 1897 की धारा 2 में कहा गया है कि जब राज्य सरकार का किसी समय यह समाधान हो जाए कि पूरे राज्य या उसके किसी भाग में किसी ख़तरनाक महामारी का प्रकोप हो गया है या होने की आशंका है तो और तब राज्य सरकार यह समझती है कि मौजूदा विधि के साधारण उपबंध इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं तो वह ऐसे उपाय कर सकेगी या ऐसे उपाय करने के लिए किसी व्यक्ति से अपेक्षा कर सकेगी या उसके लिए उसे सशक्त कर सकेगी और जनता द्वारा या किसी व्यक्ति द्वारा या व्यक्तियों के किसी वर्ग के द्वारा अनुपालन करने के लिए किसी सूचना द्वारा ऐसे अस्थायी विनियम जारी कर सकेगी जिन्हें वह उस रोग के प्रकोप या प्रसार की रोकथाम के लिए आवश्यक समझे और

वह यह भी उपधारित कर सकेगी कि उपगत व्यय (इसके अंतर्गत प्रतिकर) किस रीति से और किसके द्वारा चुकाए जाएँगे।''

इस अधिनियम की धारा 3 में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति जानबूझ कर किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य ओर सुरक्षा से खिलवाड़ करता है तो उसे कम-से-कम छः महीने की जेल और एक हजार रुपए तक का जुर्माना हो सकता है।

श्री मनीष तिवारी ने 20 मार्च, 2020 के हिंदुस्तान टाइम्स में अपने आलेख में यह कहा है कि ''महामारी अधिनियम 1897 को मुंबई में फैली प्लेग की रोकथाम के लिए 4 फरवरी, 1897 को लागू किया गया था। किंतु इस क़ानून के अंतर्गत इस रोग को फैलने से रोका नहीं जा सका था और वह शीघ्र ही बंगलौर में भी फैल गया था। इस क़ानून में तो ख़तरनाक बीमारी तक की परिभाषा तक नहीं दी गई है। महामारी की तो बात ही क्या है। इसमें दवाइयों, औषधियों और आवश्यक चिकित्सीय उपकरणों आदि के वितरण के बारे में कोई प्रावधान नहीं किया गया है।''

भारत में स्वास्थ्य विषय राज्यों के क्षेत्राधिकार में आता है। केंद्रीय स्तर पर मॉडल पब्लिक हेल्थ अधिनियम, 1955 है जिसमें 1987 में संशोधन किया गया था। इसे राज्यों ने अपने यहाँ लागू नहीं किया था। 2009 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य संबंधी आपात स्थिति के लिए एक विधेयक में प्रस्तुत किया गया था किंतु संसद उसे पारित नहीं कर सकी क्योंकि राज्यों ने इसे अपने क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप समझा था। देश में वर्तमान स्थिति की भयावहता को देखते हुए केंद्रीय स्तर पर कोई कारगर क़ानून नहीं है।

विश्व के कई देशों में वर्तमान आपात स्थितियों से निपटने के लिए क़ानून बने हुए हैं। कनाडा में आपात स्थिति अधिनियम, 1988 है तथा आपात स्थिति प्रबंधन अधिनियम, 2007 बना हुआ है। इसी प्रकार, वहाँ राज्यों के स्तर पर भी कई प्रभावी क़ानून बने हुए हैं। ऑस्ट्रेलिया में भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य सुरक्षा अधिनियम, 2007 राष्ट्रीय स्वास्थ्य आपात स्थिति से निपटने के लिए कारगर क़ानून है। इसी प्रकार, इंग्लैंड मे भी पब्लिक हैल्थ (रोग नियंत्रण) क़ानून, 1984 बना हुआ है। अमेरिका में भी पब्लिक हैल्थ सेवा अधिनियम, 1944 है जिसमें दिसंबर, 2019 में संशोधन कर उसे अद्यतन बनाया गया है।

भारत में पर्याप्त प्रावधानों वाला ऐसा कोई केंद्रीय क़ानून नहीं है जिसके अंतर्गत वर्तमान जैसी आपात स्थिति से कारगर ढंग से निपटा जा सके, इसलिए इस बात की तत्काल ज़रूरत है कि भारत वर्तमान महामारी कोरोना वायरस जैसी भयावह आपात स्थितियों से निपटने के लिए एक व्यापक क़ानून बनाए। यह क़ानून संसद के वर्तमान सत्र में नहीं बन सकता था क्योंकि संसद को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया गया है।

देश में लॉकडाउन के बावजूद कुछ लोग इस रोग की गंभीरता को समझ नहीं रहे हैं। कई स्थानों पर विधि और व्यवस्था की स्थिति पैदा हो रही है अतः सरकार को क़ानूनी स्तर पर ठोस कार्यवाही करने तथा कोरोना वायरस के उपचार संबंधी प्रभावी सुविधाओं की व्यवस्था के लिए और कड़े क़ानूनी प्रावधानों की ज़रूरत पड़ेगी। इसके लिए केंद्र सरकार को तत्काल प्रभाव से अध्यादेश ला कर प्रबंधन करना चाहिए।

❑

संदर्भ

1. महामारी अधिनियम, 1897, धारा 2 और 3
2. 'कोरोना वायरस के निपटने क लिए क़ानूनी कमियाँ दूर करें', मनीष तिवारी, अधिवक्ता, सांसद और पूर्व केंद्रीय सूचना तथा प्रसारण मंत्री। हिंदुस्तान टाइम्स, 20 मार्च, 2020

महिला विधि भारती के स्वामित्व एवं अन्य जानकारी से संबंधित विवरण

प्रपत्र चतुर्थ (देखिए नियम 8)

1.	प्रकाशन स्थान	दिल्ली
2.	प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
3.	प्रकाशक का नाम	सन्तोष खन्ना
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	बी.एच/48 (पूर्वी) शालीमार बाग, दिल्ली-88
4.	मुद्रक का नाम	सन्तोष खन्ना
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	बी.एच/48 (पूर्वी) शालीमार बाग, दिल्ली-88
5.	संपादक का नाम	सन्तोष खन्ना
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	बी.एच/48 (पूर्वी) शालीमार बाग, दिल्ली-88
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो पत्रिका के स्वामी और भागीदार हैं तथा कुल पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर-धारक है।	विधि भारती परिषद बी.एच/48 (पूर्वी) शालीमार बाग, दिल्ली-88

मैं, सन्तोष खन्ना घोषित करती हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

हस्ता. सन्तोष खन्ना

डॉ. श्रीमती राजेश जैन

भारत में पॉक्सो एक्ट, 2012 एवं बच्चों का यौन शोषण संरक्षण : समस्या एवं समाधान

किसी भी राष्ट्र या समाज का भविष्य आज के बच्चों पर निर्भर करता है। वस्तुतः बच्चे देश के भावी नागरिक होते है लेकिन आज बच्चों को न केवल मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित किया जा रहा है बल्कि उनका शारीरिक एवं मानसिक शोषण करने के साथ-साथ यौन शोषण भी किया जा रहा है जो अत्यंत घिनौना कृत्य है। ऐसी स्थिति में बच्चों को यौन शोषण से बचाने तथा जघन्य यौन अपराधों को रोकने के लिए सन् 2012 में पोक्सो एक्ट बनाया गया जिसका पूरा नाम (POCSO) प्रोटेक्शन ऑफ चिल्ड्रेन फ्रॉम सेक्सुअल अफेंसेज एक्ट है। अर्थात् बच्चों के प्रति यौन उत्पीड़न यौन शोषण और पोर्नोग्राफी (अश्लील फिल्में) जैसे जघन्य अपराधों को रोकने के लिए बनाया गया एक क़ानून है। दूसरे शब्दों में पोक्सो यौन अपराधों से बच्चों का संरक्षण करने संबंधी अधिनियम है। वर्ष 2012 में बनाए गए इस क़ानून में कुछ संशोधनों के पश्चात् अलग-अलग श्रेणी के अपराधों के लिए अलग-अलग सजा तय की गई है।[1]

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि इस एक्ट की आवश्यकता क्या थी इसे बनाना क्यों जरुरी था? इस एक्ट को बनाना इसलिए ज़रूरी था क्योंकि बच्चे बहुत ही मासूम होते हैं और आसानी से लोगों के बहकावे में आ जाते हैं, कई बार तो बच्चे डर के कारण उनके साथ हुए शोषण को अपने माता-पिता को बताते भी नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुए पोक्सो एक्ट बनाना अत्यन्त आवश्यक था।

इस संबंध में प्रसिद्ध कवि प्रसून जोशी जी द्वारा लिखित यह कविता याद आ रही है जो बच्चियों के लिए समर्पित है --

(1) ''जब बचपन तुम्हारी गोद में आने से कतराने लगे,
जब माँ की कोख से झाँकती जिंदगी,
बाहर आने से घबराने लगे,
समझो कुछ ग़लत है।

(2) जब तलवारें फूलों पर ज़ोर आजमाने लगे,
जब मासूम आँखों में खौफ नज़र आने लगे,
समझो कुछ ग़लत है।

(3) जब ओस की बूँदों को हथेलियों पे नहीं,
हथियारों की नोंक पर थमना हो,
जब नन्हें-नन्हें तलुवों को आग से गुजरना हो,
समझो कुछ ग़लत है।

(4) जब किलकारियाँ सहम जाएँ
जब तोतली बोलियाँ खामोश हो जाएँ
समझो कुछ ग़लत है।[2]

पोक्सो एक्ट के प्रावधान

1. भारतीय दंड संहिता, 1860 के अनुसार सहमति से सेक्स करने की उम्र को 16 वर्ष से बढाकर 18 वर्ष कर दिया है।
2. यह अधिनियम पूरे भारत पर लागू होता है और 18 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को यौन अपराधों के खिलाफ संरक्षण प्रदान करता है।
3. पोक्सो क़ानून के तहत सभी अपराधों की सुनवाई, एक विशेष न्यायालय द्वारा कैमरे के सामने बच्चे के माता-पिता या जिन लोगों पर बच्चा भरोसा करता है, उनकी उपस्थिति में करनी चाहिए।
4. यदि अभियुक्त एक किशोर है, तो उसके ऊपर किशोर न्यायालय अधिनियम, 2000 (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) में मुकदमा चलाया जाएगा।
5. यदि पीड़ित बच्चा विकलांग है या मानसिक रूप से या शारीरिक रूप से बीमार है, तो विशेष अदालत को उसकी गवाही को रिकॉर्ड करने या किसी अन्य उद्देश्य के लिए अनुवादक, दुभाषिया या विशेष शिक्षक की सहायता लेनी चाहिए।
6. यदि अपराधी ने कुछ ऐसा अपराध किया है जो कि बाल अपराध क़ानून के अलावा अन्य क़ानून में भी अपराध है तो अपराधी को सजा उस क़ानून के तहत होगी जो कि सबसे सख्त हो।
7. इसमें ख़ुद को निर्दोष साबित करने का दायित्व अभियुक्त (accused) पर होता है। इसमें झूठा आरोप लगाने, झूठी जानकारी देने तथा किसी की छवि को खराब करने के लिए सजा का प्रावधान भी है।
8. जो लोग यौन प्रयोजनों के लिए बच्चों का व्यापार (child trafficking) करते हैं उनके लिए भी सख्त सजा का प्रावधान है।
9. सर्वश्रेष्ठ अंतरराष्ट्रीय बाल संरक्षण मानकों के अनुरूप, इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि यदि कोई व्यक्ति यह जनता है कि किसी बच्चे का यौन शोषण हुआ है तो उसके इसकी रिपोर्ट नजदीकी पुलिस थाने में देनी चाहिए, यदि वो ऐसा नही करता है तो उसे छह महीने की कारावास और आर्थिक दंड लगाया जा सकता है।

10. यह अधिनियम बाल संरक्षक की ज़िम्मेदारी पुलिस को सौंपता है। इसमें पुलिस को बच्चे की देखभाल और संरक्षण के लिए तत्काल व्यवस्था बनाने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। जैसे बच्चे के लिए आपातकालीन चिकित्सा उपचार प्राप्त करना और बच्चे को आश्रय गृह में रखना इत्यादि।
11. पुलिस की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि मामले को 24 घंटे के अंदर बाल कल्याण समिति (CWC) की निगरानी में लाए ताकि CWC बच्चे की सुरक्षा और संरक्षण के लिए ज़रूरी क़दम उठा सके।
12. इस अधिनियम में बच्चे की मेडिकल जाँच के लिए प्रावधान भी किए गए हैं, जो इस तरह की हो ताकि बच्चे के लिए कम से कम पीड़ादायक हो। मेडिकल जाँच बच्चे के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति में किया जाना चाहिए, जिस पर बच्चे का विश्वास हो, और बच्ची की मेडिकल जाँच महिला चिकित्सक द्वारा ही की जानी चाहिए।
13. इस अधिनियम में इस बात का ध्यान रखा गया है कि न्यायिक व्यवस्था के द्वारा फिर से बच्चे के ऊपर जुल्म न किए जाए। इस एक्ट में केस की सुनवाई एक स्पेशल अदालत द्वारा बंद कमरे में कैमरे के सामने दोस्ताना माहौल में किया जाने का प्रावधान है। इस दौरान बच्चे की पहचान गुप्त रखने की कोशिश की जानी चाहिए।
14. विशेष न्यायालय, उस बच्चे को दिए जाने वाली मुआवजे की राशि का निर्धारण कर सकता है, जिससे बच्चे के चिकित्सा उपचार और पुनर्वास की व्यवस्था की जा सके।
15. पोक्सो अधिनियम में यह कहा गया है कि बच्चे के यौन शोषण का मामला घटना घटने की तारीख से एक वर्ष के भीतर निपटाया जाना चाहिए।[3]

इस प्रकार पोक्सो एक्ट में कई ऐसे प्रावधान है जिसके तहत अपराधी को कठोर-से-कठोर दंड दिया जाता है इसलिए यदि किसी बच्चे के साथ कोई अप्रिय घटना होती है या आप, किसी अन्य के साथ ऐसी घटना घटित होते देखते हैं तो आपको तत्काल पुलिस प्रशासन को सूचित करना चाहिए।

पोक्सो एक्ट की धारा 43 के प्रावधानों के तहत इस एक्ट के प्रचार-प्रसार किए जाने के निर्देश दिए गए है। इसलिए मध्य प्रदेश शासन उच्च शिक्षा विभाग द्वारा महाविद्यालयों में अधिक-से-अधिक पोक्सो एक्ट के प्रचार-प्रसार किए जाने हेतु आदेशित किया गया है, ताकि विद्यार्थियों, शैक्षणिक अधिकारियों, कर्मचारियों एवं संपूर्ण मानव समाज को इस एक्ट की जानकारी हो सके और यौन अपराधों पर नियंत्रण पा सके।

शासन की मंशानुसार म.प्र. के समस्त महाविद्यालयों को प्रतिमाह नियमित रूप से विभिन्न गतिविधियाँ एवं कार्यक्रम आयोजित कर इस एक्ट का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार करना है। विभिन्न गतिविधियों में (1) कार्यशाला, रैली, बैनर लगाना, पोस्टर लगाना, व्याख्यान-माला, परिचर्चा तथा पोक्सो एक्ट के प्रावधानों का चार्ट महाविद्यालय परिसर में लगाना आदि है। इन

गतिविधियों के आयोजित करने से विद्यार्थियों को पोक्सो एक्ट की जानकारी प्राप्त होने के साथ-साथ अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न होगी तथा समाज का प्रत्येक वर्ग लाभान्वित होगा।[4]

अंत में शोधकर्ता का कहना है कि विद्यार्थी जीवन में अपने बौद्धिक विकास के साथ-साथ अपने चरित्र को उज्जवल बनाने तथा निडर होकर नैतिकतापूर्ण जीवन जीने की कला सीखे ताकि आप समाज में रहकर सम्मानपूर्वक अपना जीवन जी सकें।

जिस तरह सूर्य प्रकाश देता है
संवेदना करुणा को जन्म देती है
पुष्प सदैव महकता रहता है
उसी तरह आप सभी विद्यार्थी निडर होकर
खुशियों से भरपूर जीवन जिये।

सरकार द्वारा बच्चों के यौन शोषण के लिए पोक्सो एक्ट में किया गए प्रावधान 2012 में किए गए थे जो कि बहुत देर से किए गए हैं। पोक्सो के अंतर्गत बच्चों के खिलाफ यौन अपराध के 6118 मामले 2012 से 2016 के बीच दर्ज किए गए हैं। इसमें 85% मामले अभी भी कोर्ट में लंबित पड़े हुए है जबकि अपराधी को सजा मिलने की दर सिर्फ 2% हैं जो कि किसी भी तरह से ठीक नही ठहराया जा सकता है।

सरकार को इस एक्ट में और ज़रूरी सुधार करने होंगे ताकि पीड़ित को जल्दी-से-जल्दी न्याय मिल सके। ज़्यादातर मामलों में देखने में आया है कि बच्चों का शोषण जान-पहचान के लोग ज़्यादा करते हैं और घर के लोग उन पर शक भी नही करते हैं। इसलिए माता-पिता का यह दायित्व बनता है कि जिन लोगों के साथ बच्चे खेल रहे हैं उन पर पूरी नज़र रखें।

❑

संदर्भ

1. जैन, डॉ. श्रीमती राजेश, भारतीय राजनीतिक सामाजिक समस्याएँ, आराधना ब्रदर्स, कानपुर, 2015, पृ. 16
2. प्रसिद्ध कवि प्रसून जोशी जी द्वारा लिखित कविता
3. पोक्सो एक्ट, 2012 के प्रावधान
4. पोक्सो एक्ट की धारा 43 के प्रावधानों का शिक्षण संस्थाओं में पालन हेतु म.प्र. शासन मंत्रालय भोपाल का आदेश क्र. 381/329/38/2019 दिनांक 12.04.2019

डॉ. भगवानदास

उग्र राष्ट्रवाद बनाम एक सार्थक पहल

18वीं सदी व उसके पूर्व की दुनिया राजसत्ता पर धर्मसत्ता की श्रेष्ठता, निरंकुश राजतंत्र, नस्लीय, रंगभेद विस्तारवाद व युद्ध के उन्माद से ग्रसित होने के कारण इस काल में समानता, सह-अस्तित्व जैसे शब्द व इन पर आधारित विचारों का यत्र-तत्र ही कुछ अपवादों को छोड़कर शेष विश्व में कोई स्थान नहीं था। 1889 की फ्रांस राज्य क्रांति के पश्चात् ही दुनिया के अधिंकाश देश निरंकुश राजतंत्र, अंध राष्ट्रवाद, मजहबी कट्टरवाद की खाइयों से निकलकर उस उदारवादी लोकतंत्र की ओर अग्रसर हुए जहाँ राष्ट्रवादी विचारधारा के साथ सहिष्णुता एवं धर्म निरपेक्ष का समन्वय था, एक दूसरे के विचारों के सम्मान के साथ सहअस्तित्व की भावना थी। अतः विश्व समाज विशेष रूप से यूरोपीय देशों के समाजों ने उदारवाद को एक लोकतांत्रिक समाज की रचना हेतु जीवनपद्धति के रूप में स्वीकार किया। इसके परिणाम स्वरूप एक ऐसी समाज की रचना का मार्ग प्रशस्त हुआ जिसकी स्थापना के मूल आधार थे -- स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, सहिष्णुता, सहअस्तित्व, लोकतंत्र एवं धर्मनिरपेक्षता।

इस प्रकार उदारवाद 18वीं सदी के बौद्विक आंदोलन से प्रेरित वह विचारधारा थी जिसमें असमानता एवं निरंकुशता का विरोध करते हुए संसदीय शासन की स्वीरोक्ति के साथ विधि के शासन को सर्वोपरि माना गया, इस विचारधारा में दुनिया को बहुसंख्यक बौद्विक लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया, जिसका प्रभाव दूरगामी राजसत्ताओं पर पड़ा तथा विश्व समाज स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, सामाजिक न्याय एवं धर्म निरपेक्षता जैसे विचारों की ओर अग्रसर हुआ।

समाज एवं राज सत्ताओं में उपर्युक्त मूल्यों की स्थापना तभी की जा सकती थी जबकि समाज में सामाजिक कट्टरपन एवं धार्मिक टकराव के लिए कोई स्थान न हो। अतः धार्मिक कट्टरवाद पर आधारित टकराव को टालने के लिए धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक अलगाववाद एवं नस्लीय श्रेष्ठता की भावना की समाप्ति के लिए सामाजिक, राजनैतिक सहिष्णुता एवं सहअस्तित्व, इसी प्रकार राजनीतिक द्वंद्व के मध्य समन्वय हेतु उदारवादी लोकतंत्र को अपरिहार्य मानते इसे जीवन पद्धति के रूप में अंगीकार किया गया। पश्चिमी राष्ट्रों व वहाँ के समाजों ने इसी मार्ग का अनुगमन कर अपनी-अपनी नस्लीय पहचान, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक, धार्मिक टकराव व भूगौलिक अंधराष्ट्रवाद को तिरोहित करते हुए अंधकारमय युग से निकलकर एक नए युग

में प्रवेश किया। जीवन पद्धति के इन उदारवादी लोकतांत्रिक मूल्यों को स्वीकार किए जाने के परिणाम स्वरूप इन राष्ट्रों व वहाँ के समाजों ने न केवल अदभुत तरक्की की, बल्कि शेष विश्व का नेतृत्व भी किया। इसके विपरीत, वे राष्ट्र व वहाँ रहने वाले समाज जिनको अपनी नस्लीय धार्मिक श्रेष्ठता, पृथक् सामाजिक पहचान अन्य समाजों व राष्ट्रों से श्रेष्ठ होने का दंभ था, जहाँ धार्मिक पाखंड व अंधविश्वास की भावना विद्यमान थी, वह राष्ट्र व समाज अपेक्षित प्रगति नहीं कर सके। उनकी नस्लीय व धार्मिक श्रेष्ठता के अंहकार ने उन्हें वैज्ञानिक चिंतन से दूर रखा। सामाजिक कट्टरपन ने उन्हें आगे बढ़ने से रोके रखा। परिणाम स्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य, अनुसंधान, तकनीक का विकास, पूँजी निर्माण, औद्योगिक प्रगति में पश्चिमी राष्ट्रों की तुलना में ये राष्ट्र व वहाँ के निवासी एक दम पीछे हो गए, उनका पिछड़ापन उनके लिए अभिशाप बन गया और वे इस अभिशाप से अभिशप्त हैं। समावेशी विकास उनके लिए एक तरह से काल्पनिक अवधारणा बन गई।

इस पिछड़ेपन का परिणाम यह हुआ कि वहाँ के एक ओर वह लोग जो धार्मिक कट्टरता, पुरातन पंथी सोच एवं सामाजिक पिछड़ापन के कारण घुटन महसूस करते थे तथा दूसरी ओर वह लोग जिनके पास जीवन निर्वाह के साधन नहीं थे ये दोनों तरह के व्यक्तियों के समूह बेहतर जीवनयापन के अवसरों की तलाश में पश्चिमी देशों में वैध एवं अवैध रूप से प्रवास करते रहे। चूँकि पिछड़े देशों के ये प्रवासी अपने देश की धार्मिक कट्टरवादी सोच, सामाजिक अंधविश्वासों को भी अपनी विरासत के रूप में अपने साथ ले गए तथा नवागंतुक देशों की उदार क़ानूनी व्यवस्था का लाभ लेकर इन्होंने अपनी इन धार्मिक आस्थाओं व सामाजिक विचारों को वहाँ प्रचारित-प्रसारित किया। परिणामस्वरूप पश्चिमी देशों के मूल निवासियों के न केवल रोजगार के संसाधन प्रभावित हुए, बल्कि धार्मिक कट्टरता व अंधविश्वासों के प्रचार प्रसार के कारण वहाँ का मूल समाज भी अपने को असहज महसूस करने लगा। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वहाँ के नौजवानों में बाहर से आकर उनके देशों में बस गए इन प्रवासियों के प्रति आक्रोश पनपा व उनकी मन व कर्म में नस्लीय घृणा की प्रवृत्तियाँ पनपने लगी। यह प्रबल माँग उठने लगी कि किसी देश के संसाधनों पर पहला हक वहाँ के मूल निवासियों का होना चाहिए तथा बाहरी प्रवासियों को यदि उनके देश में रहना है तो उनके आचार विचार व उनकी संस्कृति को अपनाना होगा। ऐसी ही विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है दक्षिण पंथ।

वर्तमान में हम देख रहे हैं कि जैसे-जैसे समय आगे बढ़ रहा है दुनिया में वैसे-वैसे दक्षिण पंथ को वहाँ के समाजों से बल मिल रहा है तथा दक्षिण पंथी विचारधारा दिन प्रतिदिन फूलती-फलती नज़र आ रही है। विगत फरवरी माह में न्यूज़ीलैंड के क्राईस्ट चर्च में एक क्रूध युवक ब्रिटन टैरंट द्वारा एक मस्जिद में की गई अंधाधुंध गोलीबारी से पूरा न्यूज़ीलैंड हिल गया, उधर टर्की में वहाँ के राष्ट्रपति अर्दोआन ने इस वीडियो को अपने चुनावी सभाओं में बार-बार दिखाकर मुद्दे को मुस्लिम बनाम ईसाई का रूप देकर चुनाव जीत लिया। ब्राजील में वहाँ के राष्ट्रपति जेयर बोल्सोनारो ने अपनी नस्लवादी, महिला विरोधी और समलैंगिक विरोधी तथा

विभाजनकारी सोच को आगे रखते हुए चुनाव जीत लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ वर्षों से विश्व की तस्वीर एकदम बदल रही है। सीरिया में वहाँ के राष्ट्रपति बशर अल-असद को पश्चिमी राष्ट्रों की भरपूर सहायता के बावजूद विद्रोहियों की फौज नहीं हटा पाई, लेकिन सीरिया पूरी तरह ध्वस्त हो गया। टयूनीशिया में सत्ता परिवर्तन हो गया। लीबिया में जहाँ एक समाज खुशहाल जनजीवन हुआ करता था वहाँ के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी को हटकार पश्चिमी राष्ट्रों ने उस राष्ट्र को अपने हाल पर छोड़ दिया। यह राष्ट्र आज कट्टर इस्लामिक सोच के चलते विभाजन की कगार पर हैं। उधर सीरिया एवं इराक से ISIS एवं उसके मुखिया मारे जा चुके हैं। अफगानिस्तान में एक दशक से ज़्यादा समय से अमेरिका के सैनिक डेरा डालने के बावजूद आधे से अधिक अफगानिस्तान पर तालिबान का नियंत्रण है।

कुछ ही समय पूर्व श्रीलंका के चर्चों एवं होटलों पर इस्लामिक कट्टरवादियों द्वारा किए गए हमले में 287 ईसाई उपासकों की जान चली गईं, ईरान नौसेना कोरट गार्ड पर हुआ हमला, पाकिस्तान के बलूचिस्तान सहित पूरे देश में शिया मस्जिदों व अन्य अल्पसंख्यकों धार्मिक स्थलों व उनके घरों पर आए दिन होने वाले हमले इसी दक्षिण पंथी सोच को दर्शाते हैं और आज विश्व के अनेक देशों में दक्षिण पंथी सरकारें निर्वाचित होकर सत्ताधीन है। यहाँ मध्ययुगीन पुरातनवादी विचार न केवल राजनीतिक विचारों के रूप तेज़ी से प्रसारित हो रहे हैं बल्कि इन्हीं विचारों से ओत-प्रोत राजनेता सत्तासीन भी हो रहे हैं। उदाहरणार्थ रूस के राष्ट्रपति पुतीन के दक्षिण पंथी विचारों के कारण वहाँ दक्षिण पंथी विचारधारा की सरकार है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप महोदय का तो कहना ही क्या, वे अपने दक्षिण पंथी विचारों के चलते न केवल मैक्सिको के प्रवासियों के अवैध प्रवाह को रोकने के लिए वहाँ मैक्सिको की सीमा पर दीवार खड़ी करना चाहते हैं, बल्कि प्रवासियों के साथ अन्य देशों विशेष रूप से आतंक को पोषित करने वाले मुस्लिम देशों के प्रवासियों को सख्ती के साथ रोकना चाहते हैं। उधर इजराइल, इरान, संयुक्त अरब गणराज्य, संयुक्त अरब अमीरात में तो दक्षिण पंथी विचारधारा की सरकारें तो हैं ही साथ ही टर्की जैसा खूबसूरत विकसित देश भी दक्षिण पंथ की चपेट में आ गया है। हमारे देश के वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व व सत्तारूढ़ दल को भी दुनिया दक्षिण पंथी मानती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण पंथी विचार पहले जो केवल अरब, इजराइल, पाकिस्तान जैसे मुल्कों तक सीमित थे वह बदलते हुए राजनीतिक परिवेश में तेज़ी के साथ विश्व के अनेक देशों में अपनी जगह बना रहे हैं। इन देशों में उभर रही राजनीतिक सत्ताएँ अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए मध्ययुगीन जातीय नस्लीय राजनीतिक एवं धार्मिक वैचारिक द्वंद को पुनः स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध नज़र आ रही हैं।

इन विचार धाराओं की कार्यशैली राष्ट्रवाद की आड़ में सत्ता के प्रति संकीर्णता, समाज के सार्वभौतिक ढाँचे को नष्ट कर रही है। ब्रह्मद्वीप अलूने का मत है कि बदलते दौर में दक्षिण पंथी ताकतों ने न केवल वैधानिक सत्ता के जरिए व्यवस्था को उन्माद में परिवर्तित कर दिया है बल्कि वे उन्मादी जातीय व धार्मिक समूहों के पैरोकार भी बन गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक प्रगतिशील युग में विश्व के कई देशों में दक्षिण पंथी राजनेता अपनी विभाजनकारी नीतियों के बल पर न केवल बेहद लोकप्रिय हो रहे हैं बल्कि उनके दल सत्ता पर काबिज भी हो रहे हैं। सत्ता पर इन लोगों के आने से राजकीय व्यवस्था की मध्यमार्गीय उदारता दूर होती जा रही है, पाकिस्तान जैसे मजहबी देशों में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा इसलिए चुनौती बन जाती है क्योंकि वहाँ के प्रभावी धार्मिक समूहों के सामने सत्ता कड़े क़दम उठाने से हिचकिचाती है। लोकतांत्रिक उदारवाद धर्मनिरपेक्ष जैसी विचारधाराएँ जिन्होंने इन अल्पसंख्यक समूहों को राष्ट्रवाद के वृक्ष के तले सुरक्षा, संरक्षण एवं विकास की राह दिखाई थी वही विचारधाराएँ अपना अस्तित्व खोती नज़र आ रही हैं। भारत में भी समाजवादी व वामपंथी आंदोलन जातीय धार्मिक आंदोलनों के चलते समाप्ति की कगार पर है। इस तरह यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि लोकतंत्र, उदारवाद, धर्मनिरपेक्षता जो कि हमारे बौद्धिक आंदोलन के साझी विरासत थे, दुनिया के राजनीतिक पटल से इन्हें विलीन होते ही पुनः दुनिया उसी मध्ययुगीन पुरातन पंथी कट्टरवादी असहिष्णुता सोच की ओर अग्रसर होने की संभावना है जहाँ से कभी हम निकले थे। इसका प्रमुख कारण है कि कुछ नस्लें विश्व में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए हिंसा, आतंकवाद, क्रूरता, अमानवीयता और अत्याचार को बेखौफ़ अपना हथियार बना रही हैं। इसके लिए उसे किसी भी कौम के साथ सहानुभूति नहीं है, अपने ही लोगों को यह लोग नेस्तनाबूद करने से बाज नहीं आते और उन्हें अपना घर-बार, देश, छोड़ कर अन्य देशों में शरण लेनी पड़ती है। इनमें से बहुत से तत्व अपने शरण स्थल देशों में ही आतंक और हिंसा फैलाने से बाज नहीं आते। अतः शरण देने वाले देश अपने लोगों की सुरक्षा के लिए कई बार ऐसे लोगों को अपनी सीमाओं में नहीं आने देते।

आज विश्व जिस कगार पर खड़ा है, हम देखते हैं कि वहाँ दाँई-बाँई विचारधाराएँ बेमानी हो चुकी है। विश्व की सलामती के लिए आज वैश्विक उदारवाद भी कोई लाभप्रद सिद्ध नहीं हो रहा है। अतः आज ज़रूरत है तो एक नई सोच और सार्थक विचारधारा की जो विश्व को एक नई पुख्ता दिशा दे सके। वर्तमान विश्व एक नए सूर्य की आगवानी का बेचैनी से इंतज़ार कर रहा है।

❑

प्रो. (डॉ.) बिभा त्रिपाठी

कोरोना संकट का विधिक एवं सामाजिक विश्लेषण

आज पूरा विश्व कोरोना वायरस (कोविड नाइनटीन) के कहर को झेल रहा है। अनेक प्रकार के प्रश्नों के चक्रव्यूह में फँसे विश्व को इंतजार है उस समय का जब खत्म हो सकेगा कोरोना से उत्पन्न महामारी का संकट। विभिन्न देशों की कूटनीतिक राजनीति ने जहाँ जी-20 समूह के माध्यम से यह संदेश देने का प्रयास किया है कि हम सब साझी जिम्मेदारी निभाएँगे और विश्व को इस संकट से उबार ले जाएँगे, वही इतिहास के पन्ने पलट रहे बुद्धिजीवी कुछ और घटनाक्रमों का भी पटाक्षेप कर रहे हैं।

मसलन, दो विश्व युद्धों का दंश झेल चुके विश्व को यह याद दिलाना कि कैसे इन्फ्लूएंजा की महामारी ने प्रथम विश्वयुद्ध से भी ज्यादा लोगों की जाने ली थी और वर्तमान के कोरोना संकट से आज की तारीख में पूरे विश्व के 10 लाख से ज्यादा लोग प्रभावित हो चुके हैं। कोई यह कह रहा है कि यह तीसरे विश्व युद्ध को जैविक शस्त्रों से लड़े जाने की सोच की गंदी साजिश है जिसने पूरे विश्व को शिकार बना दिया इस वायरस का तो वहीं कुछ लोग यह प्रश्न खड़ा कर रहे हैं कि कैसे और क्यों यह वायरस चीन के एक शहर वुहान से दूसरे शहर तक नहीं पहुँच पाया और केवल कुछ देशों को छोड़कर पूरे विश्व पर यह अपना कहर बरपा रहा है?

क्या चीन ने अपने द्वारा अपनाई गई नियंत्रण तकनीक को विश्व के साथ साझा नहीं किया या फिर चीन के इस वायरस ने अन्य शहरों को प्रभावित नहीं किया या फिर चीन अब अपनी सूचनाएँ साझा नहीं कर रहा है? ऐसे अनेक कयास है जिन्हें न तो बे-बुनियादी कहा जा सकता है न ही निरर्थक।

ऐसे में यह सोचनीय है कि जब तक विश्व राजनीति किसी निष्कर्ष पर पहुँचे और चिकित्सक अपने शोध के द्वारा इस रोग का प्रतिरोधी टीका विकसित करें, तत्काल इस समस्या से जूझने के लिए, और क़ानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए, आपदा प्रबंधन के लिए, महामारी को नियंत्रित एवं निवारित करने के लिए हमारे पास कौन-कौन से क़ानूनी विकल्प हैं? राष्ट्रीय स्तर पर और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर? संयुक्त राष्ट्र का विश्व स्वास्थ्य संगठन क्या कहता है? यूरोपियन यूनियन की क्या नीतियाँ है? विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के द्वारा इस महामारी को नियंत्रित करने के लिए कैसे क़ानून और नीतियाँ बनाई गई है?

विश्व स्वास्थ्य संगठन : इसके द्वारा वर्ष 2005 के अंतरराष्ट्रीय स्वास्थ्य विनियम का उल्लेख

किया जा रहा है जिसमें सदस्य राष्ट्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह महामारी की तैयारी एवं प्रतिक्रिया के लिए राष्ट्रीय नीति बनाएँ और वैश्विक स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए एक साथ कार्य करें। आज कोरोना वायरस से लड़ने के लिए यह संगठन चौबीसों घंटे काम कर रहा है ताकि आँकड़ों की विवेचना की जा सके। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे 30 जनवरी, 2020 को अंतरराष्ट्रीय स्तर की लोक स्वास्थ्य आपदा घोषित किया गया था और विश्व स्वास्थ्य संगठन के डॉयरेक्टर जनरल ने जी-20 के नेताओं से कोविड-19 के खिलाफ फाइट यूनाइट और इग्नाइट का 3 सूत्रीय मंत्र दिया है और स्वैच्छिक आधार पर सॉलिडेरिटी रिस्पांस फंड के गठन की बात भी की गई है।

यूरोपियन यूनियन

यूरोपियन यूनियन के सदस्यों ने आपातकालीन उपायों का अनुसरण किया है परंतु इसके अध्यक्ष वान डेर लेचन ने कहा की सभी उपायों में यूरोपियन यूनियन के आधारभूत सिद्धांतों और मूल्यों का आदर होना चाहिए। इसके द्वारा SURE नाम से एक पहल की गई है जो इस आपातकाल में बेरोजगारी के जोखिम को खत्म करने में सहयोग करेगा और जिसमें 100 बिलियन यूरो की आर्थिक मदद सदस्य देशों को करने की पहल की गई है।

जी-20 समूह

इस समूह के द्वारा 5 ट्रिलियन डॉलर को वैश्विक अर्थव्यवस्था में डालने का निर्णय लिया गया है ताकि इस महामारी से उत्पन्न आर्थिक संकट को दूर किया जा सके।

इसके अतिरिक्त, विभिन्न देशों के अलग-अलग विशिष्ट प्रयास भी उल्लेखनीय है। स्थिति की भयावहता को देखते हुए हंगरी की संसद ने अपने प्रधानमंत्री को अनिश्चितकाल के लिए अपने आदेश से देश का शासन चलाने की अनुमति दे दी है और कनाडा के क्वॉरेंटाइन अधिनियम के द्वारा लोक स्वास्थ्य आपदा को नियंत्रित करने का प्रयास किया जा रहा है और पूरे विश्व की सरकारों ने आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग कर इस स्थिति को नियंत्रित एवं निवारित करने की पहल की है।

भारत की भूमिका

ऐसी में प्रश्न उठता है एक ओर जहाँ भारत के नेतृत्व से विश्व को अनेक अपेक्षाएँ हो रही है और इस महामारी से निपटने के लिए भारतीय नीतियों एवं पहल की ओर विश्व टकटकी लगाकर देख रहा है तो भारत कौन से क़ानूनों की मदद ले रहा है उनमें क्या कठिनाइयाँ और कमियाँ दिखाई दे रही हैं और उन कमियों को तत्काल और दूरगामी दृष्टि से कैसे दूर किया जा सकता है?

भारत के कानून

भारत के ऐसे क़ानून जिनसे इस विषम परिस्थिति को संभालने का प्रयास किया जा रहा है -- वह है भारतीय दंड संहिता, एपिडेमिक एक्ट, ड्रग्स एवं कॉस्मेटिक्स एक्ट, डिजास्टर मैनेजमेंट एक्ट, एसेंशियल कमोडिटीज एक्ट इत्यादि ।

इसमें सबसे प्रमुख है एपिडेमिक एक्ट, 1897

यह अधिनियम ख़तरनाक महामारी जैसी बीमारी को फैलने से बचाने के लिए अस्तित्व में आया था। यह भारत के अति सूक्ष्म अधिनियमों में से एक है जिसमें केवल 4 धाराएँ हैं। धारा 2 के तहत राज्य एवं केंद्र सरकार को विशेष उपाय अपनाने और विनियम बनाने का अधिकार दिया गया है ताकि ऐसी बीमारी को फैलने से रोका जा सके। धारा 3 में इस निमित्त बनाए गए नियमों का उल्लंघन करने पर भारतीय दंड संहिता की धारा 188 के तहत दंड देने का प्रावधान भी रखा गया है और धारा 4 प्रवर्तन अधिकारियों के विधिक संरक्षण की बात करती है।

वर्तमान चुनौतियाँ

इस अधिनियम का प्रयोग तत्कालीन प्लेग महामारी के समय किया गया और वर्तमान में भी इसका प्रयोग किया जा रहा है। जिस तरह उस समय सामाजिक दूरी बनाए रखने के लिए प्रबंध किए गए थे उसी प्रकार आज भी किए जा रहे हैं। किंतु एक ओर जहाँ तब से आज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं तकनीकी और चिकित्सकीय क्षेत्र में अनेक बदलाव हो गए हैं। इस अधिनियम की अपने उसी रूप में प्रासंगिकता सीमित हो गई है। कोरोना के संकट को एपिडेमिक की जगह पेंडेमिक की संज्ञा दी गई है क्योंकि इससे बचने के लिए अभी तक कोई टीका उपलब्ध नहीं हो पाया है और न ही उपलब्ध उपचारों की कोई ठोस प्रमाणिकता ही सिद्ध हो पाई है।

संभावित विकल्प

ऐसे में यह सोचना है कि कौन-सा विकल्प चुना जाए कि इस संकट भरी चुनौती से निपटा जा सके। क्या संविधान में संशोधन कर आपदा की एक चौथी श्रेणी शामिल कर दी जाए जिसे स्वास्थ्य आपदा कहा जाए या फिर लोक स्वास्थ्य आपदा प्रबंधन नाम से एक नए अधिनियम का सृजन किया जाए जिसमें नियंत्रक, निवारक, उपचारात्मक एवं पुनर्स्थापनीय प्रबंध किए जा सकें जिसमें एपिडेमिक एवं पेंडेमिक की विस्तृत परिभाषा, केंद्र एवं राज्य सरकार की नियंत्रण शक्ति एवं प्रावधानों का उल्लेख हो, महामारी से पीड़ित एवं प्रभावित व्यक्ति के दायित्व सुनिश्चित हो और वर्तमान समय के तबलीगी जमात में शामिल लोगों के द्वारा उत्पन्न असहज स्थितियों को नियंत्रित करने के लिए धार्मिक प्रतिबंध से संबंधित प्रावधान का विशेष

रूप से उल्लेख किया जाए।

आज जिस तरह सोशल मीडिया के माध्यम से कुछ वीडियो वायरल हो रहे हैं कि जान-बूझकर एक विशेष संप्रदाय के लोग इस बीमारी को फैला रहे हैं। उसकी पुख़्ता जाँच और कार्यवाही का प्रबंध हो। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी प्रकार के दुष्प्रचार को चाहे वह बीमारी से संबंधित हो या फिर बीमारी फैलाने वालों से संबंधित हो कठोर दंड किए जाएँ परंतु जहाँ तक बीमारी से ग्रसित व्यक्ति की स्वीकारोक्ति एवं उपचार हेतु आगे आने या दिशा-निर्देशों का पालन करने की बात है उसके लिए दंड की जगह प्रोत्साहन का प्रबंध करना चाहिए। दंड की प्रासंगिकता एवं उपादेयता पर प्रश्न उठाए बगैर यह कहना उचित प्रतीत होता है कभी-कभी प्रोत्साहन के सार्थक परिणाम दिखाई देते हैं और फिर यह भी तकरीबन निश्चित हो गया है इस बीमारी से ऐसे भी व्यक्ति ग्रसित हो सकते हैं जो जिनमें कोई प्रभावी लक्षण दिखाई नहीं देते और जिसे हम एंसिंप्टोमेटिक केसेस ऑफ वायरस कहते हैं।

उक्त अधिनियम में लोक सेवक की परिभाषा को विस्तार देते हुए सभी स्वास्थ्य कर्मियों को लोक सेवक की संज्ञा दी जानी चाहिए और यह प्रावधान अधिनियम में अवश्य होना चाहिए कि जितने निर्देश केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किए जा रहे हैं उनका अक्षरशः पालन किया जाए। इसके अतिरिक्त सामाजिक दायित्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख होना चाहिए जिसके अंतर्गत हम न सिर्फ अपने और अपने परिवार को बचाएँ वरन् प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक संस्था अपनी सामाजिक जिम्मेदारी का निर्वहन करें और लोक स्वास्थ्य की इस आपातकालीन स्थिति से निकलने में सक्रिय भूमिका निभाए।

इसमें सबसे आवश्यक और अहम है ऐसी सावधानियाँ जो हमारी एवं हमारे वैश्विक जन समुदाय की रक्षा कर सकें। तमाम स्वास्थ्य विशेषज्ञों की बातचीत से जो बात स्पष्ट रूप से सामने आ रही है वह है उन व्यक्तियों की पहचान जो कोरोना संक्रमित देश, स्थान, वाहन या व्यक्तियों के संपर्क में आए हैं और ऐसे व्यक्ति जिनकी जाँच लंबित है या जिन्हें किसी भी प्रकार का शक है कि उन्हें ऐसा संक्रमण प्रभावित कर सकता है।

हमें यह समझना होगा कि यह ऐसी विभीषिका है जो युद्ध से भी गंभीर है जिसमें सैनिक सीमा की सुरक्षा में अपनी शहादत कबूल करता है क्योंकि संक्रमण का वह स्तर जिसमें यह व्यक्ति से व्यक्ति तक फैल सकता है अत्यधिक भयावह है और ऐसा व्यक्ति जिसकी जाँच लंबित है और जो भय वश अपने घर परिवार के भावुक निवेदन को मानकर अपने घर आता है वह न सिर्फ अपना और अपने सगे संबंधियों का नुकसान कर रहा है बल्कि पूरे विश्व के प्रति अपनी नादानी प्रदर्शित कर रहा है। जाने-अनजाने चाहे अनचाहे यदि हम में से कोई भी इस प्रकार के संक्रमण से ग्रसित हो रहा है तो उसे स्वयं को सबसे पहले अलग कर अपने इलाज को प्रारंभ कराना ही होगा।

वैश्विक संकट का दूसरा पहलू

इस वैश्विक संकट के परिणाम स्वरूप जो वैश्विक बंदी का निर्णय लिया गया और लोगों

को उनके घरों में ही रहने को सुरक्षा का सशक्त माध्यम बताया गया उसके कुछ दृष्टिकोण से कई सकारात्मक परिणाम अवश्य दिख रहे हैं।

कहते हैं प्रकृति में सभी की आवश्यकता पूरी करने की क्षमता है किंतु सभी का लालच पूरा नहीं हो सकता परंतु विडंबना यह है कि यह बात लालची लोगों को ही समझ नहीं आती। आज जब उड़ानें बंद हैं, आवागमन बंद है, लोग बेवजह की खरीदारी नहीं कर रहे हैं और जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए अपनी मौलिक आवश्यकताओं पर ही ध्यान केंद्रित किए हुए हैं उसने प्रकृति को साँस लेने का मौका जरूर दिया है। वैज्ञानिकों का यह मानना है कि जो ओजोन परत कमजोर हो रही थी और जिस पराबैंगनी किरणों से लोगों में कैंसर जैसी बीमारी फैलने की आशंका जताई जा रही थी उस पर कुछ अंकुश अवश्य लगेगा क्योंकि ओजोन परत में होने वाले छेद धीरे-धीरे भर रहे हैं। पूरे विश्व को पेट्रोल और डीजल के धुएँ से जो नुकसान पहुँच रहा था और हवा का क्वालिटी इंडेक्स लगातार बढ़ रहा था वह भी घट रहा है और सुविधाओं को कम-से-कम सहायकों द्वारा संपादित किए जाने के कारण डिजिटल भारत और डिजिटल विश्व और वर्क फ्रॉम होम की संस्कृति को मजबूती मिली है। विकास की जिस अंधी दौड़ ने पर्यावरण एवं संपोष्य विकास को ठेंगा दिखा दिया था आज एक बार यह सोच अवश्य विकसित कर रहा है कि विकास और पर्यावरण संरक्षण के बीच विलोमानुपाती और विरोधाभासी संबंध है। मिनरल वॉटर पीने वाले अति असामाजिक ढंग से रहने वाले जिनकी हर्ड इम्यूनिटी अत्यंत कमजोर है उन्हें बैक टू बेसिक यानी इ2इ का सिद्धांत अपनाना होगा। वह लोग जो बी.टेक की डिग्री प्राप्त कर एम.बी.ए. करने के पश्चात् पूरे विश्व को अर्थ, बाजार और व्यापार के दृष्टिकोण से देखा करते थे उन्हें भी यह समझना होगा कि बिना आचार शास्त्र के कोई भी व्यापार सदैव सफल नहीं हो सकता। घरों में बंद आबादी जिस प्रकार से योगासन, प्राणायाम और घरेलू साफ-सफाई की तस्वीरों को सोशल मीडिया पर साझा कर रही है उससे यह भी स्पष्ट हो गया कि रोज अपनी डी.पी. में नए कपड़ों का प्रदर्शन और दिखावटी दुनिया ने उन्हें अकेला कर दिया था। घरेलू रिश्तों में से रस खत्म हो चुका था और आपाधापी की जिंदगी ने लोगों को एकाकी और नीरस बना दिया था। जहाँ कामकाजी महिलाओं की घरेलू सहायकों पर निर्भरता ने उन्हें अशांत कर दिया था वही घरेलू कामकाज को सहकारिता के सिद्धांत पर आसानी से संपादित भी किया जा रहा है।

एक तरफ दूरदर्शन पर रामायण और महाभारत जैसे महा-काव्य का पुनः प्रसारण हो रहा है जो न सिर्फ लोगों को समय बिताने में मदद कर रहा है वरन् तीन दशक पहले की संस्कृति जिसमें पूरा परिवार एक साथ बैठकर ऐसे कार्यक्रमों को न सिर्फ देखता था वरन् उससे जीवन की शिक्षा भी प्राप्त करता था, उसे फिर से जीवंत कर दिया है। एक बार फिर लोग यह सोच रहे हैं कि राम राज्य कैसे स्थापित हो सकता है? और महाभारत से कैसे बचा जा सकता है? सहज और स्वाभाविक तरीके से जीवन जीने की जो शिक्षा ऐसे समय में प्राप्त हो रही है उसे हम सब को सँजोकर रखना है। आपदाओं की विभीषिका जहाँ दुखों का महासागर लाती

है और हमें अपूरणीय क्षति दे जाती है उसी महासागर के मंथन से कुछ अमृत कलश भी निकलते हैं। फिर चाहे वह चिकित्सकों के द्वारा इस वायरस पर नियंत्रण करने के लिए नित नई तकनीक पर शोध हो या फिर संक्रमित व्यक्तियों के सफल इलाज की बात हो। आज पूरा विश्व धरती के भगवान चिकित्सक और चिकित्सकीय समुदाय के प्रति न सिर्फ अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर रहा है वरन उनकी सेवा, निष्ठा और समर्पण का साक्षी भी बन रहा है।

आज पूरा विश्व कोरोना वायरस कोविड नाइनटीन के जिस कहर को झेल रहा है उसमें सबसे आवश्यक और अहम है ऐसी सावधानियाँ जो हमारी एवं हमारे वैश्विक जन-समुदाय की रक्षा कर सकें। तमाम स्वास्थ्य विशेषज्ञों की बातचीत से जो बात स्पष्ट रूप से सामने आ रही है वह है उन व्यक्तियों की पहचान जो कोरोना संक्रमित देश, स्थान, वाहन या व्यक्तियों के संपर्क में आए हैं और ऐसे व्यक्ति जिनकी जाँच लंबित है या जिन्हें किसी भी प्रकार का शक है कि उन्हें ऐसा संक्रमण प्रभावित कर सकता है।

हमें यह समझना होगा कि यह ऐसी विभीषिका है जो युद्ध से भी गंभीर है जिसमें सैनिक सीमा की सुरक्षा में अपनी शहादत कबूल करता है क्योंकि संक्रमण का वह स्तर जिसमें यह व्यक्ति से व्यक्ति तक फैल सकता है अत्यधिक भयावह है और ऐसा व्यक्ति जिसकी जाँच लंबित है और जो भय वश अपने घर परिवार के भावुक निवेदन को मान कर अपने घर आता है वह न सिर्फ अपना और अपने सगे-संबंधियों का नुकसान कर रहा है बल्कि पूरे विश्व के प्रति अपनी नादानी प्रदर्शित कर रहा है। जाने-अनजाने चाहे अनचाहे यदि हम में से कोई भी इस प्रकार के संक्रमण से ग्रसित हो रहा है तो उसे स्वयं को सबसे पहले अलग कर अपने इलाज को प्रारंभ कराना ही होगा।

आगे आवश्यकता इस बात की है कि हम धैर्य, सतर्कता और समझदारी से बचाव के सभी उपायों का अनुपालन करें। कोई रोड पर न निकले और कोरोना को हराएँ।

प्रधानमंत्री राहत कोष में यथासंभव दान करें और अपनी क्षमता अनुसार जहाँ तक संभव हो सके उन सब की मदद करें जिन्होंने आज तक या तो हमारी मदद की है किसी सहायक के तौर पर या फिर जिन्हें वास्तव में मदद की दरकार है फिर चाहे किसी के मासिक वेतन का पूर्ण भुगतान हो या फिर लोगों के भोजन का प्रबंध हो हम ऐसी सामाजिक सदाशयता दिखाएँ जिससे न सिर्फ कोरोना संकट से लड़ने की शक्ति मिले बल्कि इस संकट से उबरने के बाद जो राष्ट्र और विश्व हमें मिले वह सशक्त हो, समृद्ध हो और स्वस्थ हो।

❑

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी

न्यायपालिका और हिंदी : अवरोध और चुनौतियाँ

लोकतांत्रिक सरकार के तीन अंग हैं = विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इनमें न्यायपालिका की अहम एवं सशक्त भूमिका रहती है। लोकतंत्र की सफलता मजबूत और स्वतंत्र न्यायपालिका पर आधारित होती है। इस के लिए सजग और सतर्क रूप से न्याय व्यवस्था का विकास करने की आवश्यकता होती है। न्यायपालिका की सहायता के लिए जागरुक विधायिका की ज़रूरत होती है जो समाज के सर्वांगीण विकास और कल्याण के लिए विधि-निर्माण करती है ताकि कार्यपालिका उन क़ानूनों का पालन करते हुए देश में सुशासन और प्रबंधन ईमानदारी से कर सके। देश और समाज में क़ानून और व्यवस्था के पालन के लिए न्याय व्यवस्था एक कारगर साधन के रूप में काम करती है। इस न्याय व्यवस्था के प्रति सामाजिक जागरुकता होना ज़रूरी है, जिससे समाज उसे ठीक तरह से समझ सके। इसलिए जनता को न्याय दिलाने के लिए जनता की अपनी भाषा की विशेष भूमिका रहती है। भाषिक दूरी से क़ानून को समझने के रास्ते में कई प्रकार की कठिनाइयाँ और अड़चनें आती हैं। अतः न्याय व्यवस्था का अनुपालन और क़ानून का सार्थक कार्यान्वयन तभी सही रूप से संभव हो पाएगा, यदि इनमें अपनी भाषा, राजभाषा अथवा राष्ट्रभाषा का प्रयोग किया जाए। जन-सामान्य तक त्वरित और निष्पक्ष न्याय सुलभ कराने के लिए अपनी भाषा का होना अनिवार्य है। 'रूल ऑफ लॉ' सभ्य समाज की आत्मा होता है और क़ानून से ही देश की न्याय-व्यवस्था मजबूत होती है, सुशासन सशक्त बना रहता है जिससे राष्ट्र का विकास संभव हो पाता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि क़ानून अंधा है अर्थात् न्याय की देवी ने आँखों पर पट्टी बाँध रखी है। आज़ादी से पहले भारत माता जंजीरों से जकड़ी हुई थी। किंतु स्वतंत्रता के बाद भारत माता परतंत्रता की जंजीरों से तो मुक्त हो गई लेकिन उसके मुँह पर अंग्रेज़ी की पट्टी बाँध दी गई है ताकि वह गूँगे, मूक और बेजुबान की भाँति चुपचाप सब कुछ देखती रहे और कुछ भी बोल न सके कि उसके सामने क्या हो रहा है। अब समय आ गया है कि भारत माता के मुँह को अंग्रेज़ी के पाश से छुड़ाया जाए, तभी न्याय की देवी की आँखों से पट्टी हट पाएगी और न ही बेजुबान तथा गूँगा होगा लोकतंत्र। अब भारत को उसकी अपनी जुबान चाहिए, अपनी भाषा चाहिए, न कि विदेशी भाषा चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो न्यायतंत्र खुले नेत्रों से न तो न्याय दे पाएगा, न ही दूसरों की भाषा में कुछ समझा पाएगा और न ही लोकतंत्र को अपनी अभिव्यक्ति देने की स्वतंत्रता मिल पाएगी।

इसी स्थिति के कारण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार अपना दर्द व्यक्त करते हुए कहा था, यह क्या कम जुल्म की बात है कि अपने देश में अगर मुझे इन्साफ पाना है तो मुझे अंग्रेज़ी भाषा का उपयोग करना पड़े। उन्हों ने दुःखी हो कर आगे कहा कि बैरिस्टर होने पर भी मैं अपनी भाषा ही न बोल सकूँ। दूसरे आदमी को मेरे लिए तर्जुमा कर देना चाहिए। यह कुछ दंभ है? यह गुलामी की हद नहीं तो और क्या है? इसमें मैं अंग्रेज़ी का दोष निकालूँ या अपना? हिंदुस्तान को गुलाम बनाने वाले तो हम अंग्रेज़ी जानने वाले भारतीय लोग हैं।

हमारे देश में संसद, राज्य विधान सभाएँ, विधि एवं न्याय मंत्रालय तथा पंचायत से ले कर उच्चतम न्यायालय तक न्याय-व्यवस्था के प्रमुख अंग हैं, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि इनमें देश की अपनी हिंदी का प्रयोग नहीं होता। वास्तव में अखिल भारतीय न्याय व्यवस्था के लिए संविधान में जो संतुलित और सुव्यवस्थित भाषा नीति बनाई गई है, उनपर न तो गंभीरता से विचार किया गया और न ही परीक्षण करने की आवश्यकता समझी गई। इसी कारण विधि कॉलेजों के भाषा-प्रश्न की ओर सोचा ही नहीं गया जो विधि व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

संविधान का अनुच्छेद 120 लोक सभा में प्रयुक्त भाषा के संदर्भ में विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि लोक सभा की कार्यवाही हिंदी अथवा अंग्रेज़ी में होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अनुच्छेद 120 में दी गई व्यवस्था के होते हुए अनुच्छेद 348 के अधीन कार्य चलेगा अर्थात् लोक सभा की कार्यवाही या तो हिंदी में होगी या अंग्रेज़ी में। इसके साथ यह भी व्यवस्था है कि यदि कोई सांसद अपना वक्तव्य हिंदी या अंग्रेज़ी में अच्छी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकता तो वह अपनी मातृभाषा में सदन को संबोधित कर सकता है, लेकिन उसे इसके लिए लोकसभा के अध्यक्ष या राज्य सभा के सभापति से या उस समय सदन के पीठासीन अधिकारी से, जैसी भी स्थिति हो, सहमति लेनी होगी। इससे स्पष्ट है कि मातृभाषा को महत्व दिया गया है, क्योंकि सदस्य अपनी मातृभाषा में सहजता से अच्छी अभिव्यक्ति कर सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगर सांसद मातृभाषा की अपेक्षा अपनी प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषा में अच्छी अभिव्यक्ति कर सकता है, तो फिर भी उसे अपनी मातृभाषा में अभिव्यक्त करने के लिए अध्यक्षता करने वाले अधिकारी की सहमति या अनुमति लेनी होगी। इसका यह भी आशय हो सकता है कि संविधान-निर्माताओं ने प्रादेशिक भाषा और मातृभाषा में अंतर न कर उन्हें एक ही श्रेणी में रखा हो, जिसे सत्तारूढ़ दल ने या तो समझा नहीं है या समझने का प्रयास ही न किया हो अन्यथा संसद मातृभाषा के साथ-साथ प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषा को जोड़ सकती थी। दूसरा, अनुच्छेद 120 के अनुसार यदि संसद से अंग्रेज़ी हटा दी जाती है तो इसका आशय होगा कि सांसद को अब हिंदी में अच्छी अभिव्यक्ति न कर पाने के कारण अपनी मातृभाषा में बोलने की सहमति अध्यक्ष या पीठासीन अधिकारी से लेनी होगी। अनुच्छेद 120 की उपधारा में यह प्रावधान भी है कि संविधान के लागू होने के 15 वर्ष की समाप्ति पर अर्थात् 26 जनवरी 1965 के बाद अगर कोई विधेयक पारित न

हुआ तो अनुच्छेद 120 से अंग्रेज़ी शब्द अपने-आप निकला गया माना जाए गा। लेकिन दुर्भाग्य से संसद ने राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित किया गया जिसमें पहले की व्यवस्था ही रखी गई कि अंग्रेज़ी तदनुसार संसद के कामकाज में पहले की तरह बनी रहे गी। इस प्रकार अनिश्चित काल के लिए संसद में द्विभाषिक स्थिति बनी हुई है।

संविधान के अनुच्छेद 343 में अंग्रेज़ी के बारे में 15 वर्ष की जो अवधि रखी गई थी वह उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय पर लागू नहीं होती, क्योंकि इन न्यायालयों के संबंध में कोई कालावधि नहीं रखी गई। इसका आशय यह भी हो सकता है कि विधि के अनुसार संसद की इच्छा पर, किंतु वास्तविकता के आधार पर संघ के मंत्रिपरिषद अर्थात् प्रधान मंत्री की इच्छा पर यह बात छोड़ दी गई हो कि कब ऐसा क़ानून बनाया जाए जिससे उपर्युक्त मामलों में अंग्रेज़ी भाषा के स्थान पर हिंदी भाषा को रखा जाए। अनुच्छेद 348 से यह झलकता है कि अंग्रेज़ी-समर्थकों की अंदरूनी इच्छा थी कि संघ के राजकाज के लिए अंग्रेज़ी भाषा को सदैव बनाए रखा जाए। इस प्रावधान के कारण जिन राज्यों में अंग्रेज़ी का प्रयोग नहीं भी होता था, उनमें भी वैधानिक रूप से अंग्रेज़ी को विधि और न्याय की भाषा के रूप में अनिवार्य कर दिया गया। इसी अनुच्छेद के खंड (3) में यह व्यवस्था की गई कि यदि किसी राज्य का विधान मंडल अंग्रेज़ी से भिन्न भाषा में क़ानून बनाता है अथवा उस राज्य का राज्यपाल अंग्रेज़ी से भिन्न भाषा में अध्यादेश जारी करता है तो उस अध्यादेश या क़ानून का अंग्रेज़ी अनुवाद राज्यपाल के प्राधिकार से उस राज्य के राजपत्र में प्रकाशित किया जाए गा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हिंदी के संघ की राजभाषा घोषित होने के बावजूद नियमों-विनियमों, क़ानूनों, अध्यादेशों के प्राधिकृत पाठ अंग्रेज़ी में ही माने जाएँ गे, जब तक संसद इस बारे में कोई अन्य प्रावधान पारित नहीं करता। यही कारण है कि अंग्रेज़ीदाँ लोग इस बात पर तुले हुए थे और आज भी हैं कि जहाँ तक संभव हो स्वतंत्र भारत में क़ानून और न्याय की भाषा अंग्रेज़ी को ही बनाए रखा जाए। यह भी उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 345 में राज्यों को यह प्राधिकार दिया गया है कि वह जनता द्वारा बोले जाने वाली भाषा या हिंदी को राजभाषा के रूप में अपना सकती है। यह सही है कि कोई भी राज्य अपनी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसलिए वह अपनी भाषा के साथ हिंदी को भी दूसरी भाषा के रूप में अपना सकता है। वस्तुतः गुजरात राज्य के अलावा अन्य किसी राज्य ने हिंदी को अपनी दूसरी भाषा के रूप में नहीं अपनाया। यह भी दुर्भाग्य है कि किसी भी राजनैतिक दल या राजनेता ने इस बारे में विचार ही नहीं किया। विधि मंत्रालय ने भी यही सोचा कि इस बारे में कौन मुसीबत ले।

उच्चतम न्यायालय को समूचे देश के लिए एक इकाई के भाँति काम करना होता है। इसलिए उसे अपनी कार्यवाही एवं विवेचना करने के साथ-साथ न्याय-निर्णय, डिक्री, आदेश आदि देने के एक ही भाषा का प्रयोग करना पड़ता है और वह है अंग्रेज़ी। इस संबंध में अगर संसद क़ानून बनाती है तभी उच्चतम न्यायालय में हिंदी अंग्रेज़ी का स्थान ले पाएगी। इस संबंध में कुछ विधि-विशेषज्ञों में मतभेद है। उनका कथन है कि उच्चतम न्यायालय में हिंदी का प्रयोग तभी

संभव है, अगर देश के सभी उच्च न्यायालयों में हिंदी के प्रयोग का प्रावधान हो। अगर उच्च न्यायालयों या निचली अदालतों में अपनी भाषा में निर्णय, डिक्री, न्याय आदि देने का प्रावधान किया जाता है तो उनके द्वारा हिंदी अनुवाद प्रस्तुत करने पर उन अनूदित पाठों के आधार पर क़ानून का और कार्यवाहियों का स्पष्टीकरण करने या उनकी व्याख्या करने में ही उच्चतम न्यायालय का बहुत समय लग जाए गा। उच्चतम न्यायालय में एक भाषा हिंदी के प्रयोग के संबंध में आंध्र प्रदेश के पूर्व मुख्य न्यायाधीश और हिंदीतर भाषी स्वर्गीय गोपाल राव एकबोटे ने अपना मत (राष्ट्रभाषा विहीन राष्ट्र, 1987) देते हुए यह कहा है कि अगर देश की समूची न्याय प्रणाली में एकत्व स्थापित किया जाता है और समूचे देश में क़ानून के निर्माण में और उच्च न्यायालयों तथा निचली अदालतों के न्याय, निर्णय, डिक्रियों, आदेशों आदि के लिए एक ही माध्यम या भाषा होती है तभी देश की न्याय-व्यवस्था को एकसंघीय ढाँचे में लाया जा सकता है। न्यायाधीश एकबोटे के इस मत के अनुसार उच्चतम न्यायालय में हिंदी का प्रयोग संभव तो है, लेकिन इसमें बहुत-सी क़ानूनी पेचीदगियाँ उठ खड़ी होंगी या खड़ी की जाएँ गी। इस लोकतांत्रिक और बहुभाषी भारत में हिंदीतर भाषी राज्य अड़चनें पैदा कर सकते हैं और इसी कारण सत्तारूढ़ दल इस मामले में हाथ डालने से कतराते है। हालांकि संसदीय राजभाषा समिति ने भी संकल्प संख्या 1/20012/4/92 रा भा (नी-!) की मद संख्या 5(13) में अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की है कि अब उच्चतम न्यायालय में अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत होना चाहिए। प्रत्येक निर्णय दोनों भाषाओं में उपलब्ध हो। साथ ही समिति ने मद संख्या 5(14) में भी कहा है कि उच्चतम न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों और अन्य अधिकारियों को अपने प्रशासनिक और न्यायिक कार्यों में हिंदी का प्रयोग करने के संबंध में प्रोत्साहित करने के लिए एक योजना शुरू की जानी चाहिए। इस प्रयोजन के लिए संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि का आयोजन किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षरित आदेश भी निकले हैं, किंतु विडंबना यह है कि इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी इस पर अभी तक न तो कोई कार्रवाई की गई है और न ही विचार किया गया है।

अनुच्छेद 348 की उपधारा (2) के अधींन कुछ राज्यों के राज्यपालों के आदेश से उच्च न्यायालयों की कार्यवाहियों में हिंदी का प्रयोग अधिकृत हो गया है। कुछ राज्यों के उच्च न्यायालयों में अंग्रेज़ी के साथ-साथ अपनी प्रादेशिक भाषा का प्रयोग भी अधिकृत है। सन् 1950 में राजस्थान सरकार, 1970 में उत्तर प्रदेश सरकार, 1971 में मध्य प्रदेश सरकार और 1972 में बिहार सरकार के अनुरोध पर भारत सरकार ने उनके उच्च न्यायालयों में हिंदी प्रयोग को अधिकृत किया था। इन राज्यों में हिंदी के अलावा अंग्रेज़ी के प्रयोग का भी प्रावधान है। इसके अतिरिक्त, निम्न एवं माध्यमिक न्यायालयों में अंग्रेज़ी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति तो बढ़ रही है, लेकिन अंतिम निर्णय, न्याय, डिक्रियाँ आदि अंग्रेज़ी में जारी करने की प्रथा अभी भी प्रचलित है। इधर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के फैसलों के हिंदी अनुवाद की व्यवस्था करने के लिए हरियाणा सरकार और पंजाब सरकार भी विचार कर रही

हैं। उच्चतम न्यायालय ने भी अपने निर्णय हिंदी और कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने की व्यवस्था की है।

इसी संबंध में माननीय राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद ने भी केरल उच्च न्यायालय की हीरक जयंती के अवसर पर 28 अक्तूबर, 2017 को कहा था कि अदालत के फैसले अंग्रेज़ी में दिए जाते हैं जबकि हमारा देश अनेक भाषाओं का देश है। इसलिए एक ऐसी व्यवस्था की जाए जिसमें उच्च न्यायालयों के अपने न्याय-निर्णयों का प्रमाणित अनुवाद स्थानीय और क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध कराया जाए। जनता को न्याय देना महत्वपूर्ण है लेकिन वह वादी और प्रतिवादी की भाषाओं में दिया जाए ताकि जो न्याय दिया गया है वह उनकी समझ में आ जाए। वास्तव में न्यायालयों में अनिवार्य रूप से अंग्रेज़ी में निर्णय देने के कारण जन-सामान्य को देरी से न्याय मिलता है, जो नितांत चिंता का विषय है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों को न्याय मिलता भी है तो उसे यह पूरी तरह से मालूम नहीं होता कि उसने अपने मुकदमे में जो दस्तावेज अथवा कागज-पत्र दाख़िल किए हैं, उनमें क्या लिखा है। उसके मुकदमे में वकीलों में जो बहस हुई थी, उसमें क्या-क्या तर्क दिए गए थे, क्या वे तर्क सही भी थे और अंत में जो फैसला हुआ, उसमें क्या-क्या कहा गया है? उसे वकील के भरोसे रहना पड़ता है और वकील अंग्रेज़ी के भरोसे रहता है। इसलिए जब तक न्यायपालिका में अंग्रेज़ी का वर्चस्व रहता है तब तक देश के गरीब, पिछड़े, दलित, वंचित, मजदूर और ग्रामीण किसान सबसे ज़्यादा हानि उठाते रहे गे। एक तो उन्हें फैसला देर से मिलता है, दूसरा उनका पैसा भी बहुत खर्च होता है और तीसरा मुकदमे के फैसले की पूरी जानकारी भी उन्हें नहीं मिल पाती। राष्ट्रपति जी की यह चिंता वाजिब है कि अंग्रेज़ी के वर्चस्व से गरीब जनता और भारतीय भाषाओं के साथ व्यवहार नहीं हो पा रहा, अतः न्यायालयों के निर्णय का अनुवाद उनकी भाषाओं में उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाए।

लेकिन यहाँ यह स्पष्ट करना असमीचीन नहीं होगा कि विधि अर्थात् क़ानूनी भाषा तकनीकी-प्रधान भाषा है और इसी कारण यह भाषा अन्य विषयों की भाषा की अपेक्षा अधिक एकार्थी, जटिल और विशिष्ट होती है। इसकी शब्दावली और व्याकरणिक संरचना अपनी अलग विशिष्टता रखती है, इसलिए दूसरी भाषा में अनुवाद करने से अशुद्धि और संदिग्धता की संभावना प्रायः बनी रहती है। यदि मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा में न्याय, निर्णय आदि दिया जाए तो वह शुद्ध और असंदिग्ध होगा। इसलिए, अनुवाद की व्यवस्था क़ानूनी भाषा में पूरी तरह से कारगर भूमिका नहीं निभा पाएगी। केवल यही नहीं, न्यायालय के अंग्रेज़ी में दिए गए निर्णय की अपेक्षा उसके अनुवाद में और अधिक विलंब होने की पूरी-पूरी संभावना है, क्योंकि अंग्रेज़ी में दिए गए निर्णय के सटीक एवं सही अनुवाद में और समय लगेगा। साथ ही, अनुवाद के लिए अधिक धन खर्च करने की व्यवस्था भी करने होगी जो अंततः जिसका जनता पर ही पड़ेगा।

सिविल कोर्ट, जिला कोर्ट, विशेष न्यायालय के अतिरिक्त संसद तथा राज्य विधान सभाओं के विधेयक द्वारा गठित राजस्व, आबकारी, बिक्रीकरण, सहकारी आदि अधिकरण एवं न्यायाधिकरण

की कार्यवाहियों, न्याय-निर्णयों, आदेशों तथा डिक्रियों के भाषा-माध्यम का प्रश्न भी विचारणीय है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 345 के अंतर्गत राज्य विधान मंडलों को अनुमति दी गई है कि वे क़ानून बना कर एक से अधिक भाषाओं को अथवा हिंदी को अपने सभी या किन्हीं सरकारी कामकाज में लागू कर सकते हैं। इसके साथ ही सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 137 की उस दफा पर विचार करना होगा जिसमें न्यायालयों की वह भाषा जारी रहे गी जो इस कोड के लागू होने के समय लागू हुई थी। इससे राज्य सरकार को किसी दूसरी भाषा का प्रयोग करने के बारे में निर्देश देने का अधिकार प्राप्त होता है। राज्य सरकार यह घोषणा कर सकती है कि इस प्रकार के न्यायालय की भाषा क्या हो, किस लिपि में आवेदन-पत्र दिए जा सकते हैं और न्यायालय की कार्यवाही आदि के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाए।

न्यायपालिका के सबसे निचले सोपान अर्थात् ग्राम पंचायत के लिए स्थानीय भाषा के प्रयोग का प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद के अंतर्गत कुछ ग्राम-पंचायतों को दीवानी तथा फौजदारी न्याय संबंधी सीमित अधिकार मिले हुए हैं। ऐसे न्यायालयों अर्थात् ग्राम न्यायालयों को भी अपना निर्णय स्थानीय भाषा में देने का प्रावधान है।

संविधान-निर्माताओं ने न्यायपालिका की भाषिक आवश्यकताओं के निर्धारण के लिए संविधान में जो संकल्पना रखी थी, उससे स्पष्ट होता है है कि कुछ कालावधि तक अंग्रेज़ी में और बाद में अंततः हिंदी में ही काम करना होगा। यह व्यवस्था निचली अदालतों से ले कर उच्चतम न्यायालय की कार्यवाहियों में लागू हो सकती है। इससे केंद्र और राज्य दोनों की न्याय प्रणाली में ऐक्य लाने में सहायता मिलेगी। जब कभी भारतीय जिला न्यायधीशों के संवर्ग का गठन किया जाएगा अथवा वह अस्तित्व में आएगा तभी अखिल भारतीय न्याय सेवाओं में भाषिक एकात्मकता स्थापित होगी। इससे भारतीय भाषाओं अर्थात् प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में न्यायालयों की कार्यवाही हो पाएगी। संविधान सभा की तदर्थ समिति के सदस्य के रूप में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने यह टिप्पणी दी थी कि उच्चतम न्यायालय के क़ानून विषयक एक ही व्याख्या करने और एक ही प्रभाव बनाए रखना आवश्यक है। न्यायालयी एकात्मकता और राष्ट्रीय एकता के लिए क़ानूनी एकात्मकता और एक-सी व्याख्या प्रभावी सिद्ध होगी और देश की संघीय पद्धति सहज तथा सरल होगी। संविधान सभा की प्रारूप समिति के संयोजक डॉ. भीम राव अंबेडकर ने इस बात पर बल देते हुए कहा था कि संविधान ने एकसंघीय न्याय-प्रणाली की व्यवस्था की है और दीवानी या फौजदारी मामलों में उठने वाली समस्याओं को अधिकार पद्धति मे रख कर तथा उसमें परिष्कार करने के लिए उसे प्राधिकृत भी किया है। मुंशी जी और डॉ. अंबेडकर की इन भावनाओं का आदर न करना और जानबूझ कर उनकी ग़लत व्यख्या करना वास्तव में देश का अहित करना है।

यह कल्पना करना पूर्णतया ग़लत है कि न्यायपालिका के सभी सोपानों में या स्तरों में अर्थात् पंचायत से उच्चतम न्यायालय तक भविष्य में अंग्रेज़ी अनंत काल तक चलती रहे गी। लेकिन इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वर्तमान न्याय प्रणाली में जो भाषिक प्रक्रिया

विद्यमान है उसमें पूर्ण रूप से परिवर्तन लाने की नितांत आवश्यकता है। इसके लिए सरकार में पहले दृढ़ संकल्प होना बहुत ज़रूरी है। इसके लिए उसे अत्यधिक प्रयास करने पड़ें गे और सुविचारित योजना बनानी पड़ेगी। इस अभियान में राजनीतिक दलों को भी पूरा-पूरा सहयोग देना पड़ेगा। केंद्र और राज्य सरकारों में हिंदी के प्रयोग के बारे में जो झिझक और हिचकिचाहट विद्यमान है, उसे दूर करना होगा, उसे समाप्त करना होगा। स्वतंत्रता-पूर्व देसी राज्यों के अनुभवों को देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि न्यायपालिका में भाषिक परिवर्तन कोई कठिन कार्य नहीं है। हैदराबाद रियासत में उर्दू, राजस्थान, मध्य प्रदेश आदि हिंदी राज्यों के अनेक उदाहरण हैं जहाँ अपनी-अपनी भाषा में न्याय-व्यवस्था थी।

मुगल शासन मे अरबी-प्रधान फारसी भाषा राजभाषा के रूप में थी, इसलिए उस काल की जनता को यह भाषा सीखनी पड़ी। बाद में इस भाषा के अपभ्रंश रूप का प्रयोग होने लगा। ब्रिटिश शासन में सन् 1882 में उत्तर और मध्य भारत में पेशावर से बिहार तक निचले न्यायालयों की कार्यालयी भाषा तो उर्दू को बना दिया गया और शेष समूचे न्यायतंत्र में पूर्णतया अंग्रेज़ी का प्रयोग प्रारंभ हो गया। दूसरा, तत्कालीन भारत में विधि, विज्ञान, चिकित्सा आदि ज्ञानानुशासनों का शिक्षा-माध्यम अंग्रेज़ी भाषा थी। इसलिए हमारे अंदर यह धारणा बैठ गई कि अंग्रेज़ी माध्यम से ही आधुनिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तीसरा, अनुवाद से अधिक समय और राशि खर्च होने की आशंका से अंग्रेज़ी को ही जारी रखने की व्यवस्था की गई। इसलिए अंग्रेज़ीवादी लोग यह तर्क देते हैं कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ इतनी विकसित नहीं हैं कि न्यायपालिका में वे सुचारु रूप से अपनी भूमिका निभा सकें। उनका यह तर्क नितांत निराधार है। वास्तव में अंग्रेज़ी मानसिकता वाले इन लोगों का या तो मात्र बहाना है या भारतीय भाषाओं के प्रयोग में बाधा पहुँचाना है। वास्तव में भाषा अविकसित नहीं होती है, अविकसित होता है स्वयं भाषा-प्रयोक्ता और इसी लिए वह अपना दोष मढ़ देता है भाषा पर। उनकी समझ में यह नहीं आ रहा कि देश के विकास और समृद्धि के लिए समूचे देश की न्याय-प्रणाली में एक ही भाषा का होना आवश्यक है और यह भूमिका कारगर ढंग से निभा सकती है हिंदी ही। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, इटली, चीन, जापान, इराक, ईरान, अमेरिका आदि विकसित, समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्रों की अदालतों में अपनी भाषा का प्रयोग होता है न कि विदेशी भाषा का। पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, मॉरिशस आदि कुछ ऐसे देश हैं, जो भारत की तरह ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहे हैं, उनमें अंग्रेज़ी अर्थात् विदेशी भाषा में क़ानून बनाए जाते हैं, न्यायालयों में मुकदमे की बहसों और फैसलों में भी विदेशी भाषा का प्रयोग होता है। एक कारण यह भी है कि ये देश विकसित और समृद्ध नहीं बन पाए हैं।

देश में उच्च शिक्षा की जो भाषायी स्थिति है, वही स्थिति विधि शिक्षा की भी है। इस समय देश के लगभग सभी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में विधि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी ही है। संविधान में न्याय-प्रणाली को प्रभावकारी बनाने के लिए अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी को लागू करने की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसके समाधान के लिए विधि शिक्षा का

माध्यम हिंदी होना आवश्यक है। राष्ट्र की विधि प्रणाली और एकसंघीय न्याय व्यवस्था की एकात्मकता को बनाए रखने के लिए विधि शिक्षा में अंग्रेज़ी या अनेक भाषाओं के शिक्षा -- माध्यम की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए हिंदी को माध्यम के रूप में प्रयोग करने से उच्च श्रेणी के विधिज्ञ पैदा होंगे। हिंदी के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए कुछ अंग्रेज़ी-समर्थक विशेषज्ञों का कथन है कि हिंदी के प्रयोग से विधिज्ञ और बेंच का स्तर गिर जाएगा जो बिलकुल निराधार और निरर्थक सिद्ध होता है, क्योंकि स्वतंत्रता-पूर्व हैदराबाद रियासत का उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने है जहाँ न्याय-प्रणाली के साथ-साथ विधि कॉलेजों में एक ही शिक्षा-माध्यम उर्दू भाषा थी। उस समय विधि कॉलेजों में क़ानून की पढ़ाई के अतिरिक्त सभी न्यायालयों में, जिनमें उच्च न्यायालय और ज्युडिशियल कमेटी भी शामिल थी, उर्दू भाषा का प्रयोग सफल रहा। ज्युडिशियल कमेटी हैदराबाद रियासत में एक प्रकार का उच्चतम न्यायालय था। रियासत के सभी क़ानून भी उर्दू में थे। इसलिए अब समय आ गया है कि भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय, विधि और न्याय मंत्रालय, राज्य सरकारों तथा सभी विश्वविद्यालयों को इस विषय पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यह कितनी दुःखद स्थिति है कि भारतीय विधि मंडल ने इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर ध्यान ही नहीं दिया। यदि हिंदी और भारतीय भाषाओं में क़ानून की शिक्षा दी जाती है तो विधि स्नातक न्यायालयों में, यहाँ तक कि उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय में अपनी वकालत सुचारू रूप से कर सकेंगे जो वादी और प्रतिवादी के लिए सहज, सुगम तथा संप्रेषणीय भी होगा। अनेक समितियों और आयोगों ने दृढ़ता से इस बात पर बल दिया है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने से छात्रों में रटंत की आदत पड़ जाएगी और मौलिक शोध, अन्वेषण तथा स्वतंत्र चिंतन-मनन करने की शक्ति क्षीण हो जाएगी। विधि की शिक्षा के संदर्भ में संसदीय राजभाषा समिति के संकल्प की मद संख्या 19 और 24 नवंबर, 1998 के राष्ट्रपति के आदेश में भी हिंदी माध्यम में विधि की शिक्षा के बारे में कहा गया है ''हिंदी के माध्यम से भी स्नातक स्तर और स्नातकोत्तर स्तर पर विधि की शिक्षा व्यवस्था पूरे देश में तथा अन्य विधि के क्षेत्र में कार्यरत सभी विश्वविद्यालयों, अन्य संस्थाओं को करनी चाहिए।'' लेकिन शिक्षा के कर्णधारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदीतर भाषी न्यायाधीश गोपाल राव एकबोटे ने तो हिंदी और भारतीय भाषाओं का समर्थन करते हुए कहा है कि आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विधि कॉलेजों में हिंदी और अपनी प्रादेशिक भाषा दोनों को शिक्षा माध्यम के रूप में व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन इन दोनों शिक्षा-माध्यमों के लिए विश्वविद्यालयों को अनिवार्यतः एक-समान सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी। साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिन कॉलेजों में प्रादेशिक भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में लागू किया जाता है उनमें छात्रों को हिंदी का पर्याप्त ज्ञान देना भी ज़रूरी होगा। हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान भी देना होगा ताकि ये छात्र विधि स्नातक होने के बाद उच्चतम न्यायालय में भी वकालत कर सकें, क्योंकि उच्चतम न्यायालय में सभी न्याय-निर्णय हिंदी में ही देने होंगे। भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिंदी में विधि की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करना होगा।

भारत के न्यायालयों में जो करोड़ों मुकदमे अधर में लटके पड़े रहते हैं, उनके प्रमुख कारणों में एक कारण अपनी भाषा में मुकदमे की सुनवाई न होना है। एक ब्रिटिश विद्वान और चिंतक जॉन स्टुअर्ट ने सही कहा है कि विलंब से दिया गया निर्णय नहीं के बराबर होता है। प्रश्न उठता है कि वादी या प्रतिवादी को उसे अपनी भाषा या अपने देश की भाषा में न्याय क्यों नहीं मिलता? लोकतंत्र में उसके अधिकार को सीमाओं में बाँध रखा है जो वास्तव में उसके मौलिक अधिकारों का हनन है। जनता को जनता की भाषा में न्याय मिलना चाहिए।

स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए स्वभाषा, क्षेत्रीय भाषा, देश की भाषा या राष्ट्र भाषा में निर्णय देने की व्यवस्था की जाए। वस्तुतः बहुभाषी राज्य में न्याय व्यवस्था के एकीकरण के लिए, विशेषकर उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के लिए विशेष दूरदर्शिता तथा सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है।

भारत की अधिकतर जनसंख्या अपना भाषा-व्यवहार अपनी भाषा में करती है। फिर भी न्यायालयों की भाषा अंग्रेज़ी बनी हुई है। न्याय-व्यवस्था में पारदर्शिता की आवश्यकता रहती है। यदि अपनी भाषा में न्याय प्रक्रिया नहीं चले गी तो पारदर्शिता की अपेक्षा करना व्यर्थ है। बड़ी दुःखद स्थिति है कि अपनी भाषा इस न्यायालयों के दरवाजे के बाहर यह आशा ले कर चुपचाप खड़ी रहती हैं, शायद उसे कभी न्यायालय के अंदर बुला लिया जाएगा। यह कैसी विडंबना है कि जनता ने जिस संसद को चुना, वह संसद जनता की भाषा में क़ानून न बना कर विदेशी भाषा अंग्रेज़ी में बनाती है। इससे हमारे जजों और वकीलों को मनमानी करने का मौका तो मिले गा ही, साथ ही लोकतंत्र के साथ छल और धोखा भी होगा। अगर जन-सामान्य को अपनी भाषा में न्याय मिलता है तो न्यायालयों को वह बेहतर ढंग से समझ पाएगा और उसे आत्मसात कर पाएगा। अतः भाषा अभियान चलाने की आवश्यकता है, क्योंकि मातृभाषा अर्थात् अपनी भाषा का कोई विकल्प नहीं हो सकता, यह वैज्ञानिक सत्य है। यूनाइटेड अरब एमीरात (यू.ए.ई) के आबूधाबी में अपने न्यायालयों के लिए अरबी, अंग्रेज़ी भाषाओं के साथ हिंदी को तीसरी आधिकारिक भाषा के रूप में स्वीकार किया है, ताकि वहाँ बसे भारतीयों को सुविधा मिल सके। यह विडंबना ही है कि विदेश में प्रवासी भारतीयों को न्यायालयों में हिंदी का प्रयोग करने की सुविधा मिल रही है जबकि भारत में अपने भारतीयों को ही न्यायालयों में अपनी भाषा का प्रयोग करने की सुविधा नहीं दी गई है।

❑

कहानी

डॉ. शकुंतला कालरा

मैं चाहत हूँ

उस दिन इतवार था। दिसंबर का सर्द इतवार। मैं पार्क में धूप सेक रही थी। हमारे घर आजकल धूप बिल्कुल नहीं आती। लंबी-ऊँची चार-चार मंजिलों की सबकी इमारतें बन गई हैं। कभी-कभी पार्क में चली जाती हूँ। डॉक्टर ने घुटनों के दर्द के लिए रोज़ धूप में बैठने के लिए सख्त हिदायत दे रखी थी। मैंने देखा एक छोटी-सी बच्ची जिसके दाएँ हाथ पर मैला कुचैला पलस्तर चढ़ा था, अकेली घूम रही थी। बाकी बच्चे अलग-अलग ग्रुप में खेल रहे थे। एक ग्रुप चिड़ी-छिक्का खेल रहा था। प्लास्टिक के छोटे-बैट सब लड़कियों के हाथ में थे। प्लास्टिक की ही शटल कॉक यानी चिड़ी एक ने पकड़ी हुई थी। नीचे घास पर सबने कतार से अपनी अपनी चप्पल और जूतों से एक विभाजन रेखा बना रखी थी। यही इनका कोर्ट था। क्या कमाल का खेलती थीं ये लड़कियाँ, जैसे पूरी तरह से प्रशिक्षित हों। दूसरी तरफ कुछ लड़कियाँ डांस कर रही थी। उनके पास बेंच पर मोबाइल पड़ा था जिससे गाना बज रहा था। उसी के बोलों पर वे थिरक रही थी। उनमें से एक बच्ची सबको सिखा रही थी। क्या गजब की लोच थी। सभी लड़कियाँ बड़ी स्मार्ट थीं। कुछ जींस और टॉप पहने थी तो कुछ चूड़ीदार पाजामे और कमीज़ में थीं। आजकल इन्हें बढ़िया डिजाइनदार कपड़े खूब मिल जाते हैं। बड़े घरों की बच्चों की फेंशन-प्रियता की बदौलत वे नित नए डिजाइन के कपड़े कोठियों से सहज पा जाते हैं। कुछ तो इन्हें अपनी दो-चार बार ही पहनी गई और अच्छी ड्रैस भी दे देती हैं। इन बच्चों के मन में कोई कुंठा नहीं कि यह उनकी उतरन है। शायद वे अपनी औकात और अपना नसीब समझकर संतोष कर लेती हैं। बच्चे उन्हें पहनकर ऐसे सुन्दर दिखते हैं कि बड़े घरों के बच्चों के साथ खड़े हो जाएँ तो भेद भी नहीं कर पाएगा।

मैंने बच्ची की तरफ एक मुस्कान भरी दृष्टि डाली। बदले में प्यारी-सी मुस्कान उसके भोले चेहरे पर फैल गई। कैसी विचित्र माया है ईश्वर की। एक नन्हा-सा निर्दोष-भोला मुस्कुराता चेहरा। झुग्गी के इन बच्चों में बेफिक्री का जो आलम मैंने यहाँ देखा है वह बड़े घरों के बच्चों में कहीं दिखाई नहीं देता। पढ़ाई के बोझ से, माता-पिता के सपनों के बोझ और अंकों के बोझ तले दबे ये कैरियरोन्मुखी बच्चे ऐसा लगता है महीनों से खुलकर हँसे नहीं। ये बच्चे आजकल पार्क में खेलते कहीं दिखाई नहीं देते। सब कॉलोनियों में स्पोर्टस क्लब बन गए हैं जिनकी भारी सालाना सदस्यता शुल्क होती है। यह स्टेटस-सिंबल बन चुका है। कभी किसी

इतवार अपनी सहेली डॉ. अमृता के साथ मैं सुबह सैर के लिए क्लब में भी चली जाती हूँ। मैं उसकी मैंबर नहीं हूँ। अमृता इसकी मैंबर है। वहाँ पैदल पथ पर सैर करते हुए मैं खेलने आए हुए बच्चों को बड़े ध्यान से देखती हूँ जिनकी कद-काठी, रंग-रूप, सेहत सभी में अमीरी तो झलकती है किंतु चेहरे पर कहीं भीतर की खुशी की चहक दिखाई नहीं देती। प्रकृति भी कितनी विचित्र है। प्रकट में तो हर बच्चा एक-सा दिखता है किंतु अमीर बच्चों के चेहरे पर अभिजात्यता का एक दर्प ज़रूर पढ़ा जा सकता है। भारी-भरकम फीस पब्लिक स्कूल वाले इन रईसजादों की भाषा को सुनकर उनकी संस्कारविहीनता का कोई भी अंदाज़ लगा सकता है। मुझे स्पोर्टस क्लब में घूमना केवल इसलिए अच्छा लगता है वहाँ की हरियाली, ऊँचे वृक्ष, वृक्षों पर चहचहाते पक्षी, रंग-बिरंगे फूलों का तरतीब के साथ सजाए गए गमले और साथ ही मौसमी फूलों की महकती क्यारियाँ। फव्वारे, उसके साथ झूले, झूलों में झूलते डेढ़-दो-ढाई साल के बहुत छोटे बच्चे जिनके भोलेपन और मासूमियत को अभी ज़माने और उम्र की हवा नहीं लगी। टी. वी. और मोबाइल ने उन्हें अपनी चपेट में नहीं लिया। उनकी मासूम किलकारियाँ उनके भोलेमन को दर्शाती हैं। वे मौज में आ जाते हैं। यही मौज मैं पार्क में खेलते झुग्गी-झोपड़ियों के बच्चों के चेहरे पर देख रही थी।

चाहत के चेहरे पर उम्र का भोलापन तो था पर उम्र से पार थोड़ी चिंता और उदासी भी थी। अपने बाएँ हाथ पर पलस्तर वाले दाएँ हाथ को रखे वह शायद धूप वाले बैंच पर बैठने की जगह तलाश रही थी। सभी धूप वाले बेंच भरे हुए थे। मैं अकेली बेंच पर बैठी थी। चाहत मेरे बेंच की तरफ आ गई थी। मैं बेंच के एक ओर सरक गई और चाहत को इशारे से बैठने के लिए कहा। अब वह बिना किसी संकोच या भय के मेरे पास आ गई। मैंने उसे अपने साथ बेंच पर बिठाते हुए उसका नाम पूछा।

"मैं चाहत हूँ।" उसने एक प्यारी मुस्कान के साथ कहा।

"तुम्हारे हाथ पर यह चोट कैसे लगी?"

"यह, यह मैं जि़म में झूले से गिर गई" उसने अपने पलस्तर पर हाथ फेरते हुए कहा।

"क्या तुम जि़म जाती हो?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"आँटी सामने वाले ब्लाक में एक पार्क है जिसे ब्लाक वालों ने मिलकर जि़मपार्क बना दिया है। सुबह-सुबह ब्लाक के कई लोग वहाँ आते हैं।"

"कहाँ है? मैंने तो नहीं देखा।" उसने मुझे सिर घुमाकर पीछे देखने को कहा।

"वह देखो सामने आँटी। यही है जिमपार्क।"

"ठीक है आज देखूँगी वहाँ जाकर।" मैं बहुत समय से वहाँ नहीं गई थी। वैसे भी घुटनों के दर्द की वजह से मैं अब कम ही निकलती हूँ।

"अच्छा। चाहत तुम और कितने भाई-बहन हो?" मुझे उससे बात करना अच्छा लग रहा था।

"हम तीन बहनें हैं।"

"चाहत, महक और मुस्कान। मैं चाहत सबसे छोटी हूँ। मुस्कान मेरी बड़ी बहन है।"

"तुम मुस्लिम हो?" क्योंकि उनके नाम यही बता रहे थे।

"हाँ आँटी। पर आपको कैसे पता चला।"

"तुम्हारे नामों से। अच्छा चाहत, तुम पढ़ती हो? स्कूल जाती हो?" मैंने उसे अब नाम से संबोधित किया।

"हाँ आँटी। मैं चौथी में पढ़ती हूँ सर्वोदय स्कूल में। मुस्कान सातवीं में और महक पाँचवीं में।"

मुझे लगा उम्र के हिसाब से उसे छठी-सातवीं में होना चाहिए था। खैर।

"तुम्हारे घर में और कौन-कौन है?" मेरी उसमें रुचि बढ़ती जा रही थी। इसलिए बात करना अच्छा लग रहा था।

"मेरी माँ, मेरे अब्बू"

"माँ क्या करती है?"

"माँ कोठियों में झाड़ू-पोछा-बर्तन का काम करती है। बस तीन कोठी करती है। दो कोठी तो हल्की हैं। एक कोठी में काम ज़्यादा रहता है पर कोठी वाली आँटी बहुत अच्छी है। पैसे अच्छे देती है और बार-त्योहार पर भी अच्छा देती है। मम्मी की पुरानी कोठी है। हालाँकि वह ख़ुद थोड़ा सा काम भी नहीं करती। मम्मी जिस दिन शाम की भी छुट्टी कर ले तो बर्तन वैसे ही पड़े रहते हैं। मम्मी को दुगुना काम करना पड़ता है। हम उसे ज़्यादा काम करने के लिए मना करते हैं। काम करते-करते वह बीमार हो गई और ऊपर चली गई तो?" उसके स्वर में चिंता थी।

"ऊपर क्यों चली जाएगी? काम करने से कोई बीमार होता है और ऊपर क्यों चला जाएगा?"

"हाँ आँटी, मेरी माँ बहुत अच्छी है। बहुत अच्छी। और अच्छे लोगों को भगवान जल्दी ऊपर बुला लेता है" उसकी आवाज़ में दर्द मिश्रित आशंका थी। लगता था उसके किसी बहुत अपने के साथ कोई हादसा ऐसा हुआ था। मैं उस छोटी-सी बच्ची की माँ के प्रति भावनाएँ पढ़ रही थी। इस उम्र में इतनी संवेदनशीलता। शायद इसी उम्र तक ही संवेदनशीलता रहती है। ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं व्यावहारिक होते जाते हैं। बचपन में वे पूरी तरह माता-पिता पर आश्रित होते हैं। उनसे बिछुड़ने की कल्पना ही उन्हें आहत कर जाती है। माता-पिता उनके लिए बहुत प्रिय होते हैं।

"चाहत, तुम माँ को बहुत प्यार करती हो?''

"माँ है ही इतनी अच्छी। जानती हो आँटी, मैं तो मरने वाली थी। मुझे टी.बी. हो गई थी। उसने मुझे बचा लिया। माँ ने सब जगह से कर्ज लेकर मेरा इलाज कराया। माँ पर कितना कर्ज चढ़ गया। कुछ आसपास के झुग्गी वालों से कर्जा लिया। कुछ रिश्तेदारों से और बाकी कर्ज 'सॉसी' से लिया।"

"यह 'सॉसी' कौन है?"

"आप 'सॉसी' नहीं जानती?"

"नहीं, तुम बताओ"

"सॉसी दारू बेचने वाले को कहते हैं। वह झुग्गियों में ही रहता है। ब्याज पर सबको कर्जा देता है। झुग्गी वाले ज़रूरत पड़ने पर उसी से कर्जा लेते हैं। माँ फालतू काम करके कर्जा चुका रही है। आँटी आपको बताऊँ, मेरी माँ से ठीक से चला भी नहीं जाता। वह लंगड़ाकर चलती है। उसका एक पैर टूट गया था। अरे आँटी, किसी कोठी में काम कर रही थी। बाथरूम धोकर वहाँ से बाहर निकली कि पैर फिसल गया। गीले पैर थे। ऐसी गिरी कि अभी तक नहीं सँभली। हमेशा के लिए लंगड़ी हो गई। आपरेशन हुआ था। लोहे की रॉड डली है पैर में। खैर पैसा तो सारा कोठी वाली आँटी ने खर्च किया था। उसे अस्पताल भी वे ही ले गए थे। अस्पताल का सारा खर्चा तो उन्होंने किया पर आँटी दर्द तो उसने भोगा न और आज तक भी तकलीफ में है। सर्दी में दर्द बढ़ जाता है। आराम भी तो नहीं मिलता।"

"बीच-बीच में छुट्टी नहीं करती है?" मैंने पूछा।

"नहीं आँटी, छुट्टी के पैसे डबल मिलते हैं, इसलिए छुट्टी नहीं करती। कहती है कर्जा जितनी जल्दी उतर जाए। उधार वाले भी तो तकाजा करते हैं। बेचारी माँ। मैं भी इतनी छोटी हूँ। फिर स्कूल जाती हूँ। छुट्टी वाले दिन साथ चली जाती हूँ। डस्टिंग करवा देती हूँ।"

वह हिंदी बहुत अच्छी बोल रही थी। उसकी बोलचाल में सारे शब्द हिंदी के थे। वह ख़ुदा या अल्लाह न कहकर भगवान कह रही थी। माँ को अम्मी न कहकर मम्मी कह रही थी। शायद उसकी संगी-सहेलियाँ जो भाषा बोलती थीं उसकी भाषा भी वही बन गई थी। उसकी भाषा में उर्दू के शब्द बहुत कम थे। कई सालों से दिल्ली रहते हुए और झुग्गी में मिलजुलकर रहने का यह प्रभाव था। न तो उसका चेहरा, न उसका पहनावा और न उसकी भाषा से कोई उसके मुस्लिम होने का अंदाजा लगा सकता था। मैं सोचने लगी, सच बच्चे प्रांत, भाषा, जाति, धर्म से कितने अछूते हैं। काश बड़े भी इन जैसे बन जाएँ।

चाहत अपनी उम्र से ज़्यादा समझदार लग रही थी। उससे बात करते हुए मैं बार-बार यही सोच रही थी कि वह ऐसा क्यों कह रही है कि अच्छे लोगों को भगवान ऊपर बुला लेता है और बुरे लोगों को यहीं छोड़ देता है।

"चाहत बेटा अच्छा यह बताओ तुमने ऐसा क्यों कहा कि भगवान अच्छे लोगों को ऊपर बुला लेता है?"

"आँटी, माँ कहती है। मेरी दादी कहती है। नानी कहती है। यह तो हर बार हुआ है जो अच्छे लोग होते हैं उन्हें भगवान ऊपर बुला लेता है। मेरे पड़ोस में एक 'पंगोली' भैया थे। बहुत अच्छे थे। सभी बच्चों को बहुत प्यार करते थे। टॉफियाँ बाँटते थे। बच्चों को कहानियाँ सुनाते थे और आँटी, गाते बहुत अच्छा थे। पीते थे पर पीकर कभी किसी से लड़ाई नहीं करते थे। पीकर घर में चुपचाप पड़े रहते थे। जब भी घर में शराब पीकर आते तो उसकी माँ उनसे

लड़ाई करती। माँ उन्हें बहुत डाँटती थी। बड़बड़ाती रहती थी। जब वह मर गए तो अब हर समय रोती रहती है। आँटी अब तो वह भगवान के पास चले गए। वापस तो नहीं आ सकते। दादी कहती है जो भगवान के पास चले जाते हैं वे वापस नहीं आते।"

वह अबोध बच्ची उनकी माँ को दोष दे रही थी। पंगोली भैया के प्रति उसकी संवेदना इतनी अधिक थी कि उसकी माँ की पीड़ा को उसका बालहृदय नहीं समझ पा रहा था। कौन माँ अपने बच्चे को शराब पी-पीकर रोज़-रोज़ मरता देखना चाहेगी? आखिर वही तो हुआ जिसका माँ को अंदेशा था। बेटे की नशे की लत ने उम्र के इस पड़ाव में यह सब देखने के लिए विवश कर दिया था। बुढ़ापे में जवान बेटे के जाने का गम एक माँ ही समझ सकती है। कैसे चलता-फिरता इंसान यंत्र बन जाता है।

"और आँटी मेरे दादा जी जिन्हें हम पिताजी बोलते थे उन्हें भी भगवान ने अपने पास बुला लिया। वे भी अब ऊपर पहुँच गए हैं। मुझे उनकी बड़ी याद आती है। हमारे साथ खेलते थे। किस्से सुनाते थे। वह तो इतने अच्छे थे, इतने अच्छे थे कि कोई उन जैसा हो ही नहीं सकता। पता है आँटी, वह हमसे खूब पंगे लेते थे। जब मैं अपने गाँव खजूरी जाती तो वह अम्मा से कहते -- "ला छुरी ला छुरी इसकी गर्दन काटूँ।" कहकर वह हँसने लगी शायद पिछली बातें याद आ गई थीं। चाहत ने बताया कि गाँव में दादी के साथ उनकी थोड़ी सी ज़मीन है। वे वहाँ खेत-खलिहान में ही मगन रहते थे।

"अच्छा चाहत, तुम्हारे पापा मेरा मतलब तुम्हारे अब्बू क्या करते हैं?" उसके परिवार को जानने की मेरी उत्कंठा बढ़ती जा रही थी। साथ ही मुझे उससे बात करना अच्छा लग रहा था।

"अब्बू सूट साड़ियाँ बेचते हैं?

"फेरी लगाते हैं? या दुकान है?"

"नहीं, दुकान है हमारी"

"दुकान कहाँ है?"

"हमारी झुग्गी के सामने ही।"

"दुकान कैसी चलती है?"

"आँटी, कभी-कभी तो दो-तीन दिन तक एक साड़ी भी नहीं बिकती। किसी-किसी दिन अच्छी बिक्री हो जाती है। त्यौहारों के आसपास तो बड़ी अच्छी बिक्री होती है। कुछ लोग उधार भी ले जाते हैं। धीरे-धीरे किश्तों पर चुकाते हैं। अब्बा सबको दे देते हैं क्योंकि झुग्गियों में उधारी ज़्यादा चलती है।"

"तुम्हारे पापा मेरा मतलब तुम्हारे अब्बू कैसे हैं?"

"अच्छे हैं। पर जब शराब पीकर आते हैं तो बहुत गाली-गलौच करते हैं। मम्मी भिड़ जाती है उनसे। कभी-कभी तो इतनी लड़ाई हो जाती है कि मम्मी पिट जाती है। एक बार तो उसकी बाजू की हड्डी भी टूट गई थी। दो महीने पलस्तर चढ़ा रहा। काम से भी छुट्टी ली।

हमे बहुत डर लगता है। उस दिन हम सब तो दुबक कर बिस्तर में चले जाते हैं। मुस्कान आपा हम दोनों बहनों को खाना देकर सुला देती है। डर से हमें नींद नहीं आती। पर हम चुपचाप पड़े रहते हैं।" चाहत के चेहरे पर वह डर अभी भी ताज़ा होकर उभर आया था।

"आँटी, हम झुग्गी वालों के घर-घर की यही कहानी है। मेरी सहेली है रानी। उसके पापा तो कोई काम नहीं करते। बस घर में पड़े रहते हैं। शराब पीते हैं। उसकी माँ बर्त्तन और झाड़ू-पोछे का काम करती है। पत्नी से पैसे छीन लेते हैं। नहीं देते तो उसकी बुरी तरह से पिटाई करते हैं। उसे ज़मीन पर पलट देते हैं और खूब मारते हैं। नशे में पागल होकर एक बार तो उसने इतना पीटा कि वह बेहोश हो गई। रानी जब बचाने आई तो उसे भी पीट दिया। नशे में उन्हें कुछ नहीं सूझता। चाहत का सवाल औरतों की अस्मिता पर था। उनके सम्मान पर था। पति कैसा भी हो, दुराचारी, शराबी, जुआरी या सट्टेबाज -- वह उसकी चाकरी करे। वह उसे चाहे कोई सुख न दे, काम न करे, उसे प्रताड़ित करे, पर फिर भी वह पति के साथ रहती है क्योंकि वह उसके बच्चों का पिता है। उसे अधिकार है उसे पीटने का। यह सवाल उसके वजूद का था।

"आँटी, सरकार शराब की दुकानें बंद क्यों नहीं कर देती?" छोटी सी दस-बारह वर्ष की बच्ची ने मुझसे इतना बड़ा वह सवाल कर दिया जिसका उत्तर मेरे पास भी नहीं था। कैसे कहूँ कि व्यवस्था बदलने वाली नहीं। सरकारी तंत्र बदलने वाला नहीं। शराब बिकती रहेगी, औरत पिटती रहेगी, परिवार टूटते रहेंगे, बच्चे भूखे-सहमे और डरे-डरे रहेंगे। बपचन खिलने से पहले मुरझा जाएगा। मैं इस विषय पर कुछ गंभीरता से सोचूँ या उसके सवाल का जवाब दूँ उसने दूसरा एक ओर सवाल दाग दिया --

"आँटी, क्या बड़े घरों में भी मर्द शराब पीकर औरतों को पीटते हैं?"

छोटे मुँह बड़ी बात सुनकर मैं अवाक। क्या उत्तर दूँ मैं इस आज की भोली बालिका और कल की युवा नारी को। उसका कहीं भी कोई वजूद नहीं। सिर्फ सेवा करना ही उसका धर्म है। शराबी होने का, पत्नी को पीटने का अधिकार। वहाँ भी सब ऐसा है। पुरुष चाहे झुग्गी का हो चाहे महल का, गरीब हो या अमीर उसकी प्रकृति एक-सी होती है। पीटने का अधिकार लेकर ही वह पैदा हुआ है। मैंने उसे कोई उत्तर नहीं दिया और बात घुमा दी। मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि बच्चे बहुत समझदार होते हैं, किंतु उनकी मानसिक और बौद्धिक शक्तियाँ वातावरण या माता-पिता से टकराने में नष्ट हो जाती हैं। यदि उन्हें उचित वातावरण मिले तो वह समझ और शक्ति उनके जीवन को एक सुंदर रूप दे सकती है। चाहत के भीतर एक समझदार लड़की थी जो मुझसे सवाल-जवाब ऐसे कर रही थी जैसे कोई बड़ी बुजुर्ग अनुभवी महिला हो।

"अच्छा चाहत खाना कौन बनाता है?'' मैंने उत्तर देने के बदले प्रश्न कर दिया।

"खाना माँ बनाती है। बड़ी आपा मुस्कान भी उसकी साथ कुछ काम करवा देती है। मैं और महक कुछ नहीं करते।"

"क्या अब्बू भी खाना बनाते हैं?"

क्योंकि झुग्गियों में कई आदमी भी खाना बना लेते हैं। औरतें काम पर जाती हैं। वे पीछे बच्चे भी देखते हैं और खाना भी बना लेते हैं।

"नहीं आँटी, पापा तो बस शराब पीकर पड़ जाते हैं। उलटा माँ से हर समय लड़ते भी हैं। उन्होंने सट्टे में सब कुछ खत्म कर दिया। कई बार तो शराब के लिए कभी माँ के और कभी मुस्कान आपा के पैसे भी चुरा लेते थे। एक बार आपा के पाँच सौ रुपये चुरा लिए और सट्टे में हार गए। रात को वह एक कोठी में किसी बुर्जुग अंकल का खाना बनाने जाती है। वह अकेले रहते हैं। माँ ने उसे लगवा दिया था। उस दिन आपा कितना फूट-फूट कर रोई थी। आपा बहुत अच्छी हैं। हम दोनों बहनों को भी कभी-कभी पैसे दे देती हैं। कभी हमारे लिए चाउमिन लेकर आती हैं। वह पैसे माँ को देना चाहती है पर माँ उससे पैसे कभी नहीं लेती। कहती है तू अपने पास रख। आँटी पापा लोग सट्टा क्यों खेलते हैं? कई दिन घर में पड़े रहे। दुकान पर भी नहीं गए। माँ ने चाचा को बुलाया था समझाने के लिए। उनकी बात मानते हैं। चाचा कुछ दिन रहे थे हमारे पास। वह बहुत अच्छे हैं। जितने दिन रहे पाँच-दस रुपये हम सब बहनों को रोज़ देते थे। चाचा शराब नहीं पीते। जैकट बनाने वाले एक कारखाने में काम करते हैं। अच्छी पगार पाते हैं। मेरी बीमारी के समय भी मम्मी को पैसा देते थे। पापा जब काम पर जाने लगे तो चाचा चले गए। उनकी बात मानकर काम पर भी जाने लगे और घर-खर्च का पैसा भी माँ को देने लगे।"

"चाचा कहाँ रहते हैं?"

"खजूरी। दादी अम्मी के पास।"

"पापा अब भी शराब पीते हैं?"

"कभी-कभी माँ से छिपकर पी लेते हैं। पर माँ को पता चल जाता है। वह भिड़ जाती है उस दिन। एक दिन फिर पी ली। पान खाकर आ गए। पान खाने से बदबू नहीं आती। चुपचाप आकर बिस्तर पर सो गए। मुझे पता चल गया पर मुझे इशारा किया कि मैं चुप रहूँ। मैं तो डर से चुप रही पर माँ को पता चल गया। उसने उस दिन खूब लड़ाई की। पापा भी जमकर लड़े। शराब पीकर कहाँ होश रहता है। खूब गाली-गलौच की और माँ को धमकी दी। मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगा। ऊपर चूल्हा अपना अलग बना लूँगा। तुमसे तलाक ले लूँगा। तलाक की बात सुनते ही माँ डर जाती है। उसके चेहरे का रंग उड़ जाता है। आँटी पापा लोग तलाक कहकर क्यों डराते हैं? आँटी बस लड़ाई इतनी बढ़ जाती है कि खाना वहीं पड़े-पड़े ठंडा हो जाता है। मुस्कान आपा हमें खाना परोस देती बस जैसे-तैसे पेट भर लेते।

"क्या नाम है तुम्हारे पापा का?"

"मुहम्मद फहीम"

"और माँ का?" अभी तक मैंने उनके नाम नहीं पूछे थे।

"सुनीता"

"यह नाम तो हमारे यहाँ होता है?"

"हमारे यहाँ भी होता है।" चाहत ने तुरंत कहा।

हो सकता है चाहत ठीक कह रही हो। वैसे यहाँ आकर लोग अपना नाम बदल लेते हैं। झुग्गी में इनके नाम अलग होते हैं और कोठियों में अलग। मेरे यहाँ एक काम वाली आती थी। उसने अपना नाम कौशल बताया था। आसपास सब उसे इसी नाम से जानते थे पर झुग्गियों में अपनी बिरादरी में वह रजिया थी।

चाहत मुझसे बाते कर रही थी पर अब उसका ध्यान बंट रहा था। वह एक ही दिशा की ओर बीच-बीच में देख लेती। लग रहा था वह अब किसी की इंतज़ार कर रही है।

"कितने बजे हैं आँटी। दो बज गए क्या?" उसने कुछ अंदाज़ा लगाते हुए कहा।

"हाँ पूरे दो ही बजे हैं। कहीं जाना है क्या?"

"नहीं माँ आने वाली है। दो-ढाई बजे आ जाती है। लो वह आ गई।" सामने माँ को आता देख अचानक उसने कहा तो मैंने भी उस ओर देखा। एक पाँव से थोड़ा लंगड़ाकर चल रही साफ-सुथरी महिला सामने से आ रही थी।

"बॉय आँटी" कहकर वह छोटी चाहत माँ की ओर बढ़ गई लेकिन पीछे कुछ बड़े सवाल छोड़ गई जिनके उत्तर मैं कब से तलाश रही हूँ और स्वयं से ही पूछ रही हूँ? क्या नारी कभी गरिमा के साथ नहीं जी पाएगी?

❑

सुजाता प्रसाद

राजनीति में आधी आबादी की भागीदारी

किसी भी देश की वांछित उन्नति के लिए उस देश की महिलाओं की भागीदारी की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है। स्त्री का अस्तित्व ही उसकी पहचान है जो उसकी एक विशिष्ट और पृथक सत्ता का प्रतीक है। संसार में विकास के लिए महिलाओं का मुख्य धारा से जुड़ा होना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि समाज में नारी की स्थिति जितनी सम्मानजनक, महत्त्वपूर्ण, सुदृढ़ और सक्रिय होगी उतना ही समाज मजबूत, उन्नत व समृद्ध होगा। भारत की राजनीति की बात करें तो महिलाओं की भागीदारी न के बराबर ही मानी जाएगी। भारत में महिलाओं की कुल जनसंख्या का करीब 48 फीसदी हैं लेकिन रोजगार में उनकी हिस्सेदारी सिर्फ 26 फीसदी की है। न्यायपालिका और केंद्र और राज्य सरकारों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व काफ़ी कम है। पंचायतों में जहाँ राज्यों में महिलाओं के लिए आरक्षण दिया गया है तो वहाँ पदासीन होने के बाद उस पद का उपयोग सक्रिय रूप से औसतन घर के पुरुष सदस्य ही करते हैं। ऐसे में स्थितियाँ बोल उठती हैं कि ये चंद संख्याएँ अपनी प्रबल प्रतिनिधित्व के बावजूद आधी आबादी की विफलता की ही कहानी कह रही हैं।

यह भी सच है कि भारतीय राजनीति में कुछ महिलाओं ने अपने दम पर अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करवाई है। प्रतिनिधित्व का परचम लहराती महिलाओं की फेहरिस्त बेशक कम हो, लेकिन वे अपने बलबूते पर महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हो पाई हैं। इसलिए इसमें कोई दो मत नहीं है कि शिक्षा, प्रतिभा और योग्यता के संतुलित समन्वय से महिलाएँ राजनीति के सफर की सफल साथी बनती आई हैं और बन भी रही हैं। स्वतंत्रता से पूर्व ही देश में पहली बार सन् 1917 में महिलाओं की राजनीति में भागीदारी की आवाज़ उठाई गई थी, जिसके बाद सन् 1930 में सर्वप्रथम महिलाओं को मत देने का अधिकार मिला। आज भी देश में महिलाएँ बेशक राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, लोकसभा में विपक्ष की नेता और लोकसभा अध्यक्ष के साथ साथ अन्य विभिन्न विशेष राजनीतिक पदों पर आसीन होती रही हैं, लेकिन राजनीति में महिलाओं की हिस्सेदारी में अभी भी अधिक सुधार नहीं हुआ है। क्योंकि एक तथ्यात्मक सत्य यह भी है कि संसद में महिला प्रतिनिधित्व के वैश्विक औसत में भारत का स्थान बहुत नीचे है। 543 सीटों वाली वर्तमान लोक सभा में इस समय 62 महिला सांसद हैं, इससे पहले 2009 में 58 महिलाएँ थीं। थोड़ा-सा ग्राफ बढ़ा लेकिन 33 फीसदी आरक्षण के हवाले से तो यह संख्या नगण्य ही कही जाएगी।

विश्व आर्थिक मंच की रिपोर्ट में महिलाओं की आर्थिक भागीदारी, स्वास्थ्य, शिक्षा और राजनीतिक भागीदारी का आकलन किया जाता है। प्रत्येक वर्ष महिला दिवस के अवसर पर जारी होने वाली इंटर पार्लियामेंटरी यूनियन (आई.पी.यू.) की रिपोर्ट के अनुसार भारत की संसद या विधान सभाओं में महिला जन प्रतिनिधियों की उपस्थित संख्या बहुत ही कम है। 2017 की 'आई. पी.यू.' की रिपोर्ट के अनुसार भारत को 103वें स्थान पर रखा गया है जो कि पिछले वर्ष 111 वें नंबर पर था। विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में महिलाओं की हिस्सेदारी संसद के दोनों सदनों में महज 12 प्रतिशत है। फिलहाल की रिपोर्ट बताती है कि संसद में महिलाओं का औसत देखें तो विश्व का औसत जहाँ 22.6 फीसदी है, वहीं इंटर पार्लियामेंटरी यूनियन की रिपोर्ट के मुताबिक, संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व के मामले में दुनिया के 193 देशों में भारत का स्थान 148वाँ है। 'आई.पी.यू.' के मुताबिक भारतीय संसद में महिलाओं की भागीदारी इसके पड़ोसी देशों सिर्फ श्रीलंका को छोड़कर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश से भी कम है। और यू.एन. डी.पी. की रिपोर्ट के अनुसार महिलाओं के सशक्तिकरण में अफगानिस्तान को छोड़कर सभी दक्षिण एशियाई देश भारत से बेहतर हैं। संसद में महिलाओं के आँकड़ें देखें तो रवांडा 63 फीसदी के स्तर पर हैं और नेपाल में 29.5 फीसदी महिलाएँ संसद में हैं। अफगानिस्तान में 27.7 फीसदी और चीन की संसद में 23.6 फीसदी महिला सांसद हैं। पाकिस्तान में भी संसद में 20.6 फीसदी महिला सांसद हैं। वहीं भारत का औसत केवल 12 फीसदी है और स्थिति ऐसी है कि इन तमाम अड़चनों के चलते महिला आरक्षण विधेयक एक सत्र से दूसरे सत्र और एक लोकसभा से दूसरी लोकसभा तक टलता जा रहा है। पिछले दस से अधिक सालों से शायद ही कोई संसद सत्र होगा जिसमें महिला आरक्षण बिल की बात न उठी हो। यह संविधान के 85वें संशोधन का विधेयक है। 1996 ई. में पहली बार महिला आरक्षण बिल पेश किया गया था। राजनीति में महिला भागीदारी कम होने का कारण है कि महिला आरक्षण बिल 22 साल से अटका हुआ है। 1996 में पहली बार पेश होने के बाद और 2010 में राज्य सभा से पास होने के बाद भी यह दुबारा लोक सभा से पास नहीं हो पाया।

महिला आरक्षण बिल को पास करने की असफलता से ही स्पष्ट हो गया है कि महिलाओं के मुद्दों के प्रति राजनीतिक दल कितने गंभीर हैं। महिला मतदाताओं की याद सिर्फ चुनावी सरगर्मी भर ही रहती है और उनके द्वारा किए गए वादे घोषणा-पत्रों तक ही सीमित रह जाते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर विधान सभाओं तथा संसद में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण को लेकर जो विधेयक बनाया गया है उसे राज्य सभा पारित कर चुकी है, अब लोक सभा द्वारा पारित किया जाना बाकी है। भारतीय राजनीति में अभी भी पुरुषवादी सोच हावी है। अफसोसजनक बात तो यह है कि टिकट बँटवारे के वक्त राष्ट्रीय दल भी 10-15 प्रतिशत से अधिक महिलाओं को लोक सभा चुनाव लड़ने के लिए टिकट नहीं देते हैं। साफ है सियासती दलों के एजेंडे में महिला और महिलाओं से जुड़े मुद्दे काफ़ी पीछे आते हैं। इसके पीछे सबसे बड़ी वजह यह है कि महिलाओं को देश में शायद कोई भी दल वोट बैंक के समूह के तौर पर नहीं देखता है क्योंकि अब तक

भी अधिकांश महिलाएँ अपने अपने घर के पुरूषों के मत के अनुसार ही अपना-अपना मतदान करती हैं। हालाँकि अब शिक्षा के बढ़ते ग्राफ और बढ़ते शहरीकरण के बाद इस मामले में महिलाएँ स्वतंत्र निर्णय लेने लगी हैं। इसलिए आज के दौर में विधायी निकायों में महिलाओं के लिए सकारात्मक रूप से ठोस क़दम उठाए जाने की ज़रूरत है।

इस प्रकार, देश में वर्तमान समय में 'महिला-राजनीति' के विकास में कई-कई बाधाएँ हैं। आज भी भारत की आधी आबादी का एक बहुत बड़े हिस्से के द्वारा अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के पीछे भागने की मजबूरी उनकी प्रथम प्राथमिकता है, उनका आर्थिक रूप से आज़ाद नहीं हो पाना अपने आप में एक समस्या है, स्त्रियों के लिए जेंडर भेदभाव के शिकंजे का कसा रहना उन्हें पीछे धकेलने की साजिश है, अपर्याप्त शिक्षा की असुविधा का होना उनकी उड़ान में बाधक सरीखा है। इसके अलावा भी स्त्रियों को कई अन्य सीमाओं-परिसीमाओं को पार करने की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। जैसे -- पितृसत्तात्मक दायरे की सहमति का न मिल पाना, चुनावी प्रक्रिया के दौरान अड़चनों का खड़ा हो आना, राजनीति के प्रति रूझान नहीं होना और न ही इस क्षेत्र में महिलाओं का नेतृत्व में अग्रणी भूमिका का होना, अनुकूल पारिवारिक पृष्ठभूमि का ना हो पाना, प्रदूषित राजनीतिक वातावरण के कारण इस क्षेत्र को चुनने के प्रति कम आकर्षण का होना ऐसे कुछ कारण हैं जो राजनीति में महिलाओं की कम भागीदारी का सबब बनते हैं।

इतनी कठिनाइयों के बावजूद देश की महिलाएँ राजनीति में न सिर्फ आगे आ रही हैं, बल्कि अपनी भागीदारी को सफल भी बना रही हैं। भारतीय संविधान में 73-74वें संशोधन के द्वारा पूरे देश के आँकड़े बताते हैं कि पहले पंचायत स्तर पर 4 प्रतिशत महिलाएँ सक्रिय रूप से भाग लेती थीं तो अब इनकी भागीदारी लगभग 50 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। यानी तस्वीर का दूसरा पहलू यह भी है कि माना कि भारत की राजनीति में महिलाओं की कम भागीदारी के पीछे कई कारणों के साथ-साथ पितृसत्तात्मक खाके की मौजूदगी रुकावटें पैदा करती आई हैं, पर इससे भी कहाँ इनकार किया जा सकता है कि नब्बे के दशक के अंत से चुनावों में महिला मतदाताओं की संख्या में उल्लेखनीय रूप से न केवल बढ़ोत्तरी हुई है बल्कि तमाम लक्ष्मण रेखाओं को लाँघकर आज की महिलाओं ने राजनीति में अपना अस्तित्व भी कायम किया है। इस प्रकार जहाँ पहले से राजनीति में धाक जमाने वाली अग्रणी महिलाओं में इंदिरा गांधी, सुचेता कृपलानी, विजय लक्ष्मी पंडित, सरोजिनी नायडू, सोनिया गांधी, सुषमा स्वराज, मायावती, ममता बनर्जी, जय ललिता, प्रतिभा सिंह पाटिल, मारग्रेट अल्वा,..... मेधा पाटेकर, शीला दीक्षित, मृदुला सिन्हा इत्यादि का नाम दर्ज है वहीं बदले हुए वर्तमान राजनीतिक परिवेश में जहाँ महिलाएँ केंद्रीय मंत्री, राज्य मंत्री, मुख्यमंत्री, महापौर और सांसदों के पदों को सुशोभित कर रही हैं। साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों में भी महिलाएँ भिन्न भिन्न पदों पर नियुक्त हैं।

बदलते समय की करवटों के साथ आज महिलाएँ अपने मताधिकार का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक करने लगीं हैं। महिलाएँ राजनीति में न सिर्फ आगे आईं बल्कि इन्होंने राजनीतिक

पार्टियों और सरकारों को अपना नेतृत्व भी दिया। इतना ही नहीं संसद और विधान सभा में गंभीर मुद्दों पर अपनी बात रखी और उचित निर्णय भी लिए। हालाँकि अभी भी मीलों का सफर तय करना बाकी है। राजनीतिक परिदृश्य की तस्वीर भी यही बताती है कि महिलाओं को जब भी मौका मिला उन्होंने अपनी काबिलियत की गहरी छाप छोड़ी है। पर यह कड़वा सच है कि आधी आबादी राजनीति में अभी भी हाशिये पर ही है और विभिन्न स्तर की राजनीतिक गतिविधियों में महिलाओं की प्रतिशतता बढ़ जाने के बावजूद भी महिलाओं को अभी भी निर्णयात्मक पदों में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। फिर भी देश का बदला हुआ परिदृश्य कमोबेश सुखद अहसास दे रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक पूर्व रिपोर्ट का जिक्र करना भी लाजिमी है कि ''भारत जैसे देशों में यदि महिलाओं की भागीदारी इसी तरह से कम रही तो लिंग असंतुलन को पाटने में 50 वर्ष से अधिक लगेंगे। ऐसे में ऐसी आशा की जा सकती है कि 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' अभियान के परिणामस्वरूप और जन-गण में आई जागृति के कारण आने वाले समय में राजनीतिक पृष्ठ पर आधी आबादी अपने बुलंद हौसलों के साथ अपने अस्तित्व की विशिष्टता को यूँ ही बरकरार रखेगी और अपनी अस्मिता की प्रबल भागीदारी के लिए नया विहान लाने की पूरी कोशिश करते हुए आगे बढ़ती जाएगी। इसलिए आज ज़रूरत है उन तमाम अभावों के भीतर झांकने की और फिर अभाव-ग्रस्त पहलुओं की पूर्ति करने की।''

माना कि आज महिलाओं की संघर्ष की लड़ाई कुछ कम हुई है, अधिकारों को पाने की मशक्कत थोड़ी कम हुई है, पर सवाल ये उठता है कि आज़ादी के कई दशकों बाद भी महिलाओं की भागीदारी में इतनी गैर-बराबरी क्यों है? ऐसे में बालिका बचाने की सफल मुहिम, महिलाओं की सुरक्षा, उनकी शिक्षा और आर्थिक संपन्नता कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य पहलू हैं जिन्हें अमल में लाकर क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। ये गौर करने वाली बात है कि भारतीय राजनीति में महिलाएँ आम चुनावों में बहुत ही कम संख्या में भाग लेती हैं, हालाँकि स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन आया है। देश की राजनीति और आधी आबादी के बीच बनी दूरियों को पाटने की ज़रूरत है साथ ही इनकी भागीदारी की दिशा में काम करने की भी ज़रूरत है और ऐसा तभी संभव हो सकेगा जब इन्हें भी विकास की मुख्य धारा से जोड़े जाने की पहल की जाएगी।

❑

बीरभद्र कार्कीढोली

मीडिया संदर्भ सूचना क्रांति एवं सेंसरशिप

साहित्य भी मीडिया है और मीडिया भी साहित्य है। सूचना क्रांति ने साहित्य और मीडिया की पहचान अलग-अलग स्थापित की है, इस उत्तर सत्य युग यानी Post-Truth Period के अंतर्गत अलग पहचान बनाने की प्रक्रिया तेज हुई है, पर इस प्रक्रिया ने समाज और साहित्य के बीच एक सकारात्मक पहलू भी रेखांकित किया है। साहित्य ने मीडिया को आधार दिया है और मीडिया ने साहित्य को अपना सर्वस्व दे डाला है। साहित्य और मीडिया दरअसल मानव समाज के उद्‌गाता हैं। इन दोनों ने एक सुंदर दुनिया बनाने की चाहत जगाई है। हिंदी पत्रकारिता का इतिहास ब्रितानी भारत में शुरू होता है। उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष करते-करते हिंदी पत्रकारिता का विस्तार हुआ। इस संघर्ष के दौरान हिंदी पत्रकारिता ने अपना मुकाम तैयार किया, ख़ासकर राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दरम्यान जहाँ इसने ब्रितानी उपनिवेश को ख़त्म करने का ऐलान किया और उस ऐलान के तहत इसने अपने लक्ष्य को साधा। यदि इसके उद्देश्यों पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि हिंदी पत्रकारिता ने भारतीय वांड्मय और मनीषा का सही इस्तेमाल करते हुए पश्चिम के चिंतन को अपनी शर्तों पर ग्रहण करते हुए भारत की मुक्ति की वकालत करने में कामयाबी हासिल की। इसकी इन उपलब्धियों पर जब-जब ध्यान जाता है तब-तब यही स्पष्ट होता है कि हिंदी पत्रकारिता ने शुरूआती दौर में भारतीयता को प्रमुखता दी तथा खड़ी बोली भाषा को अपना माध्यम बनाने का प्रयास किया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना तथा उस विश्लेषण के अनुसार हस्तक्षेप करना हिंदी पत्रकारिता की शान रही है।

यह सच है कि पत्रकारिता के बुनियादी आसूलों की अभिव्यक्ति सही-सही उस वक्त नहीं हो पा रही थी जिस तरह की बुनियादी आसूल की झलक विदेशी भाषा में प्रकाशित पत्रिकाओं में मिलती है। कहने का अभिप्राय यह है कि अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की संख्या जिस तरह अधिक थी ठीक उसी तरह विषयों की विविधता के दृष्टिकोण से भी अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाएँ हिंदी पत्रकारिता की अपेक्षा आगे थी। गुणवत्ता हासिल करना उस दौर में हिंदी पत्रिकाओं के लिए चुनौती था। आज़ादी के बाद इस गुणवत्ता को आगे बढ़ाने में हिंदी पत्रकारिता ने अपने विज़न का परिचय दिया। देश आज़ाद हुआ, आज़ादी राजनीतिक तौर पर मिली जिसे हम राजनीतिक स्वाधीनता भी कहते हैं, वैसे आर्थिक स्वाधीनता के बिना

राजनीतिक स्वाधीनता का कोई मतलब नहीं है पर स्वतंत्रता तो स्वतंत्रता ही है। इस भरोसे को संबल बनाते हुए हिंदी पत्रकारिता का सफर स्वतंत्र भारत में शुरू होता है। सही अर्थों में यह सफर किसी मायने में सुहावना सफर नहीं था। समाजशास्त्र के विशेषज्ञों ने इस तरफ ध्यान आकर्षित किया। सामाजिक विषमता तेज़ी से बढ़ने लगी, इसने स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर भी प्रश्नचिन्ह लगाने का प्रयास किया तब जाकर हिंदी पत्रकारिता को यह एहसास हुआ कि इसका असल कारण शासक वर्ग द्वारा निर्धारित नीतियाँ हैं। शासक वर्ग एक व्यवस्था के जरिये शासन चलाने का प्रपंच रचती है। जनता समझती है कि उसे वोट देने का अधिकार मिल गया है जबकि शासक वर्ग को यह महसूस होता है कि उसने किसी राजनीतिक दल को सरकार चलाने के लिए जनता से अधिकार छीनकर उस दल को सौंप दिया है।

पत्रकारिता को इसी बिंदु पर ऐतराज है कि आखिर जनता द्वारा चुनी गई जनता की सरकार को इस तरह के प्रपंच में क्यों फँसना पड़ता है? जनता की सरकार जब चलती है तो जनता क्यों त्राहि-त्राहि करती है, यह भी एक सवाल है। पत्रकारिता यथार्थ के बिना आगे नहीं बढ़ पाती है। हिंदी पत्रकारिता यथार्थ को ही अपना पाथेय बनाकर आगे बढ़ती है, परिवर्तन तथा परिवर्तन के सकारात्मक पहलुओं पर विचार करती है। यही कारण है कि हिंदी पत्रकारिता का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। आज़ादी के बाद देश में उभरती हुई समस्याओं का यथार्थपरक चित्रण इसने शुरू किया। इसका प्रभाव जनमानस पर पड़ा। सच सामने आने लगा, शासक वर्ग घबराने लगा, इस घबराहट में आकर उसने नियंत्रित और अनियंत्रित तरीके से हिंदी पत्रकारिता को अपने हित में साधने की कोशिश शुरू की। इसका भी नतीजा हिंदी पत्रकारिता के अंतर्गत देखने को मिला।

सोवियत संघ के पराभव के बाद हिंदी पत्रकारिता का स्वरूप अपने ढंग से विकसित होने लगा। '90 के दशक में नव उदारीकरण का दौर आया, कंप्यूटर का जमाना आया। धीरे-धीरे नव-उदारीकरण ने अपना विस्तार शुरू किया। एक-ध्रुवीय विश्व बनने की दिशा में अमेरिका की पहल शुरू हुई। वर्चस्ववादी रूप अमेरिका का स्पष्ट होने लगा। सामरिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में जिस तरह से अमेरिका अपने वर्चस्ववाद को स्थापित करने लगा उससे पूरी दुनिया में हड़कंप मच गया। इस क्रांति ने समाज को बदलने का प्रयास किया। बदलाव का दर्शन तो हुआ पर बुनियादी बदलाव दूर तक नज़र नहीं आया। ज़िंदगी की आपाधापी बढ़ी पर लोगों की परेशानी कम नहीं हुई। इस संदर्भ में भी हिंदी पत्रकारिता ने यथार्थवादी नज़रिया को आत्मसात् किया। उस बदलाव की बात पत्रकारिता ने शुरू की जिस बदलाव के लिए उसने संघर्ष ब्रितानी भारत में किया था यानी जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए विश्वव्यापी परिवर्तन को देश के हित में प्रयुक्त करना सत्य, असत्य और अर्धसत्य के बीच फर्क को जानने के उद्देश्य से पत्रकारिता का संघर्ष जारी है। हिंदी पत्रकारिता ने भाव और कला दोनों दृष्टियों से इस सूचना-क्रांति के युग में ख़ुद को समृद्ध किया। जहाँ इसने एक तरफ सूचना-क्रांति के सकारात्मक

गुणों को अपनाया वहीं इसने सूचना-क्रांति की विसंगतियों को जनता के सामने प्रस्तुत किया।

सूचना-क्रांति की संगतियों-विसंगतियों का विश्लेषण करने के साथ-साथ पत्रकारिता ने नया आयाम अर्जित करने का प्रयास किया। इस आयाम पर विभिन्न तरह के विचार हुए हैं, इस आयाम का आधार यथार्थपरक है। यथार्थ के फलक पर हिंदी पत्रकारिता ने अपना विस्तार अनोखे ढंग से आरंभ किया है। हिंदी पत्रकारिता ने सूचनाओं को मानव हित में व्यवहृत किया है। मानव सभ्यता के इतिहास में पहली बार सूचना का इस तरह विस्तार हुआ है। यही कारण है कि हिंदी पत्रकारिता ने सूचना-क्रांति को विविध पहलुओं का उपयोग मानव हित में शुरू किया है। सूचना पद्धति का विश्लेषण करते हुए पोस्टर मार्क ने बताया है कि संवाद आवश्यक है, जैसा कि उन्होंने लिखा है -- ''मीडिया की भाषाएँ संदर्भहीन, एकतरफा, आत्मसंदर्भकारी-प्राप्तकर्ता को निरंतर आत्म-गठन के लिए आमंत्रित करती है, विमर्श के विभिन्न स्वरूपों के जरिए आत्म के साथ 'बातचीत' के दौरान पुनर्गठित करती है।" पत्रकारिता के बारे रवींद्र शुक्ला ने कहा है ''...अख़बारों के ब्यूरो के ज़िम्मे राजनेताओं से 'लियाजनिंग' (संपर्क साधना) करते रहने का काम सर्वप्रमुख है। ब्यूरो प्रमुखों के लिए पत्रकारिता गौण है, 'लियाजनिंग' प्रमुख है।" टी.वी. माध्यम की शक्ति से परिचय कराते हुए डॉ. श्याम कश्यप का मंतव्य इस प्रकार है ''...टेलीविज़न एक साथ एक ही समय में दूर-दराज के क्षेत्रों में बैठे लाखों-करोड़ों दर्शकों को संबोधित कर सकता है। यह कमाल केवल टी.वी. पर हो सकता है। रेडियो आवाज़ तो पहुँचा सकता है मगर छवियाँ नहीं।" पोस्टर मार्क ने टी.वी. के बारे में बताते हुए लिखा हैं कि "टी.वी. का विज्ञापन एक व्यवहार्य संकेत-सूचक घटना होती है। संदेश के प्राप्तकर्ता के व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए वह शब्दों और छवियों का प्रयोग करता है।'' उदारीकरण के प्रभाव के बारे अखिलेश मिश्र ने कहा है -- "आर्थिक नीति के उदारीकरण के पक्ष में यह तर्क अक्सर दिया गया है कि पूरे विश्व में बिना प्रतिबंध, बिना विशेष सुविधा और बिना पक्षपात खुली औद्योगिक प्रतियोगिता होने पर जनता को अनेक विकल्पों में से सबसे अच्छा, सबसे सुंदर, सबसे टिकाऊ और सबसे सस्ता मनपसंद माल चुनने का अवसर मिलेगा। यही बात अब समाचार-पत्र और पत्रिकाओं के संबंध में कही जाने लगी है।" भाषा के निर्माण में सूचना-पद्धति की भूमिका के बारे पोस्टर मार्क ने लिखा है -- ''...भाषा संदर्भ से जुड़ी होती है। उसका वह अंश उस स्थान से जुड़ा होता है जहाँ शब्द उच्चारित किये जाते हैं। सूचना-पद्धति एक नई भाषा का निर्माण करती है जो ऐसी जगहों पर विकसित होती है, जहाँ वह बोली जाती है।" जनसंपर्क के साधनों का विकास, किसी भी देश के लिए हितकर होता है, इस बारे में एन.सी. पंत का कहना है कि "...विकसित देशों में जनसंपर्क एक पृथक् व्यवसाय बन चुका है। भारत में जनसंपर्क के विभिन्न पहलुओं के महत्त्व के संबंध में जागरुकता बढ़ती जा रही है।''

पूँजीवाद का मीडिया पर प्रभाव होते हुए भी मीडिया की अपनी स्वतंत्र प्रकृति होती है, जैसा कि पोस्टर मार्क ने लिखा है -- "...लेकिन भाषागत प्रक्रियाओं के रूप में देखे जाने पर

पता चलता है कि सूचना की नई संरचनाएँ समाज में संचार के स्वरूप बदल देती हैं और कर्ता की स्थिति को अस्थिर बना देती हैं।" इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के महत्त्व के बारे में डॉ. श्याम कश्यप ने लिखा है -- "टी.वी. न्यूज़ के प्रारंभिक दौर में टी.वी. पत्रकारिता अख़बारों से ख़ुराक हासिल करती थी। पत्रकार अख़बार पढ़कर ख़बरें सोचते और बनाते थे। मगर जैसे-जैसे टी.वी. न्यूज़ का नेटवर्क बढ़ता गया, प्रिंट पर उसकी निर्भरता भी घटती चली गई। आज आलम उल्टा हो गया है। आज न्यूज़ चैनल ख़बरों के मामले में उसे पछाड़ रहे हैं।'' टेक्नोलॉजी के महत्त्व के साथ-साथ उसकी चुनौतियों को भी डॉ. श्याम कश्यप ने रेखांकित किया है -- ". ..अब टेक्नोलॉजी अगर तेज हो गई है तो उसके हिसाब से काम करने वाले को भी तेज होना पड़ेगा। इस तेज़ी की ज़रूरत को पूरा करने के लिए पत्रकारों को शारीरिक रूप से ही नहीं, मानसिक तौर पर भी तैयार होना पड़ेगा।" हरबर्ट आई शिलर के अनुसार, ''सामाजिक व्यवस्था में गहनतम संघर्ष की स्थिति को पहचानने और उसकी व्याख्या करने के प्रति अनिच्छा का भाव सांस्कृतिक-सूचनात्मक उपकरण के कार्य निष्पादन में कोई नई बात नहीं है।'' इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के दौर में भी प्रिंट मीडिया का महत्त्व किस प्रकार बना हुआ है इसे पोस्टर मार्क ने इस प्रकार बताया है, "प्रिंट मीडिया, पढ़ने वाले को (कर्ता को) तर्कबद्ध, स्वायत्त अहं के वाहकों के रूप में गठित करता है। ऐसा कर्ता संस्कृति का अधिक स्थाई व्याख्याकार होता है जो अकेले में पंक्तिबद्ध (मुद्रित) संकेतों के बीच तर्क के संबंध स्थापित करता है।" जनमत के निर्माण में जनसंपर्क के महत्त्व को एन.सी. पंत ने इस प्रकार रेखांकित किया है कि "जनसंपर्क का कार्य किसी भी संस्था की विशेषताओं और उसके उद्देश्यों को प्रस्तुत करने का एक वैज्ञानिक तरीक़ा है। विभिन्न विद्वानों ने जनसंपर्क को जनता से संबंध स्थापित करने की कला माना है। इस कला द्वारा संपर्ककर्त्ता अपने संस्थागत गुणों को उजागर करके एक योजनाबद्ध विधि से जनसंबंधों को आधार बनाकर जनमत का निर्माण करता है।"

मीडिया और दर्शक

दर्शक पर मीडिया के होने वाले प्रभाव का जिक्र करते हुए पोस्टर मार्क ने लिखा है -- ''मीडिया की एकतरफा बातचीत को हम निष्क्रिय होकर नहीं प्राप्त करते। मीडिया देखने वाले का आत्म-पुनर्गठन कर देता है और इस प्रकार वे गहरे रूप से उससे जुड़ जाते हैं।" मीडिया के प्रभाव और उसकी उपयोगिता का उल्लेख डॉ. श्याम कश्यप ने इस प्रकार किया है कि "...अगर मीडिया का इस्तेमाल अपने व्यापारिक-राजनीतिक हितों की रक्षा करने के लिए किया जा रहा है तो यह राष्ट्रीय या स्थानीय स्तर पर ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी हो रहा है।'' जयदेव तनेजा ने समाज में मीडिया की भूमिका पर सवाल उठाते हुए लिखा है ''...मीडिया और मनुष्य के रिश्ते एक ख़तरनाक मोड़ पर आ गए हैं और दुर्भाग्य से हम इस ख़तरे को पहचानने और उसको चुनौती देने-रोकने की कोशिश करने के बजाए उसका खुले दिल से स्वागत

कर रहे हैं।" अखिलेश मिश्र ने विदेशी नीति के बारे लिखा है कि "...विदेशी पूँजीपतियों की नीति अपना कबाड़ भी अविकसित देशों के बाज़ारों में बेच लेने की है।" विदेशी नीति से भविष्य में उत्पन्न होने वाले ख़तरे की ओर संकेत करते हुए अखिलेश मिश्र ने आगे कहा है, "पत्रकारों, डॉलर प्रेमी प्रेस मालिकों और समाचार-पत्र प्रकाशन से संबंधित उद्योगपतियों के समुदाय में छल, धन और बल से अपने मन-मुताबिक परिणाम प्राप्त करने की कला है। राजनीति से लेकर धर्म तक के क्षेत्र में अमेरिका की यह कारगुजारी जगजाहिर है।''

मीडिया और सेंसरशिप

सरकार के सेंसरशिप के बारे एडवर्ड एस हरमन ने लिखा है ''सरकारी नियंत्रण और सेंसरशिप को सार्वजनिक कार्यक्षेत्र के लिए ख़तरा न सिर्फ निरंकुश राज्यों में, बल्कि संसदीय संस्थाओं वाले देशों में भी माना जाता रहा है।'' टेलीविज़न के विरोधाभासी स्वरूप की ओर संकेत करते हुए डॉ. श्याम कश्यप और मुकेश कुमार ने बताया है कि "टेलीविज़न ने हमारे अंदर एक विश्व नागरिक होने का एहसास भर दिया है। हालाँकि अभी ये उतना पक्का नहीं है मगर यह प्रक्रिया लगातार जारी है और कुछ वर्षों में रहा-सहा बेगानापन भी जाता रहेगा।'' इंटरनेट का गाँवों में किस प्रकार प्रसार हो रहा है, इसका उल्लेख करते हुए रवींद्र शुक्ला ने लिखा है ''...इंटरनेट का गाँवों में प्रवेश हो रहा है। मध्य प्रदेश में धार जिले में ज्ञानदूत योजना के रूप में तथा आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र व केरल आदि राज्यों में अन्य परियोजनाओं के रूप में इंटरनेट गाँवों में दाख़िल हो चुका है। ग्रामीण जो कुछ सूचनाएँ पहले अख़बारों से लेते थे, उनमें से सभी न सही तो काफ़ी कुछ उन्हें इंटरनेट से मिलने लगी हैं या मिलने लगेंगी।'' टेलीविज़न के जरिये किस प्रकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपने उत्पादों एवं सेवाओं के प्रति दुनिया भर के लोगों में ललक पैदा की, इसका जिक्र डॉ. श्याम कश्यप एवं मुकेश कुमार ने इस प्रकार किया है -- "पूँजी के भूमंडलीकरण में टेलीविज़न ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की है। उसने दुनिया भर में लोगों के मन में उन उत्पादों और सेवाओं के लिए ललक पैदा की, जिन्हें बहुराष्ट्रीय कंपनियां बेचना चाहती थीं, यानी टेलीविज़न ने उनके लिए बाज़ार तैयार किए।" भारतीय प्रेस के समक्ष विदेशी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने कई तरह के संकट पैदा किए हैं, इस बारे अखिलेश मिश्र ने बताया है कि, "...आज भारतीय प्रेस में जो चेतनता है, यदि विदेशी और बहुराष्ट्रीय आक्रमण रोका न गया तो वह कहीं खोजने पर भी नहीं मिलेगी। इस आक्रमण को तो रोकना ज़रूरी है, परंतु शासन, उद्योग, वाणिज्य में विश्पव्यापी स्वतंत्र प्रतियोगिता होने पर विकसित, अविकसित देशों के बीच का भेद मिटेगा और सब सामान स्तर पर आ जाएँगे।" संपर्क के महत्त्व के बारे एन सी पंत ने लिखा है ''...सरकारी संस्थान हो या निजी, आधुनिक युग में हर किसी को जनता से संपर्क बनाना ही पड़ता है।" सूचना के प्राकृतिक स्वरूप का जिक्र पोस्टर मार्क ने इस प्रकार किया है, "...'सूचना' सबसे पहले

विनिमय की एक वस्तु है और इसलिए इसे बाज़ार की शक्तियाँ नियंत्रित कर रही हैं।"[25] टेलीविज़न पर ख़बरों का सिलसिला शुरू होने में चौदह सालों का इंतजार करना पड़ा था। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में किस प्रकार पत्रकारिता जागरूक मानस बनाने में जुटी हुई है, जैसाकि रवींद्र शुक्ला ने लिखा है कि "...यह कहना होगा कि पत्रकारिता जागरुक बनाने का, मानस निर्मित करने का एक निरंतर प्रयास है।"

मनोरंजन के क्षेत्र की विविधता पर प्रकाश डालते हुए हरबर्ट ने कहा है कि "...संचार व्यवसाय है जिसकी प्रेरणाएँ और उत्प्रेरक वही हैं जो किसी अन्य मुनाफ़ा चाहने वाले उद्यम के होते हैं। इसका अर्थ है कि सूचना और मनोरंजन के क्षेत्र में विविधता केवल इसी अर्थ में होती है कि कार्यक्रम की मुख्य श्रेणियों के सतही तौर पर भिन्न अनेक रूपांतर होते हैं।" इंटरनेट को इनपुट स्वीकार करते हुए रवींद्र शुक्ला ने लिखा है -- ''...इंटरनेट निश्चित रूप से जागरूक, जीवंत एवं ऊर्जा से भरे पत्रकार के लिए एक और इनपुट है।"[30] एडवर्ड एस. हरमन के अनुसार ''...सिनेमा के मामले में इससे पहले के अख़बारों और पत्रिकाओं के इतिहास से सर्वथा भिन्न, छोटे पैमाने के उद्योगों के बीच लंबे समय तक चलने वाली होड़ की ऐसी कोई प्रक्रिया थी ही नहीं, जिसका प्रतिफलन संकेंद्रण के रूप में सामने आए।" सूचना प्रौद्योगिकी के बारे में रवींद्र शुक्ला ने लिखा है कि "इंटरनेट अख़बार से भी बड़ी भूमिका अदा कर सकता है क्योंकि पहला, इंटरनेट तुरंत होता है। अख़बार के लिए आपको दूसरे दिन सुबह तक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। दूसरा, इंटरनेट पर न तो कोई आंतरिक सेंसर है और न कोई बाह्य सेंसर है।"

एन.सी. पंत ने जनसंपर्क संस्थान के आर्थिक जोखिम के बारे में यह बताया है कि "आज जनसंपर्क संस्थान एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में कार्य कर रहे हैं तथा अपनी सेवाएँ दूसरे संस्थानों को बेच रहे हैं। ये विविध साधनों से उत्तम परिणाम देकर सेवा शुल्क प्राप्त करते हैं। यह स्थिति भी जनसंपर्क को एक व्यवसाय ही बनाती है।" अख़बार का गहरा विश्लेषण करते हुए रवींद्र शुक्ला ने लिखा है कि "अख़बार का चरित्र ही ऐसा है। उसमें घटनाओं का गहरा विश्लेषण और कार्य-कारण संबंध स्थापित करना होता है। उसमें भविष्य के बारे में अधिक सोचना होता है। वरना अख़बार, अख़बार नहीं बन सकता।" श्रम विभाजन के बारे मार्क पोस्टर ने कहा है कि "अब कार्यस्थल में कंप्यूटरों के प्रयोग से एक नए क़िस्म के श्रमिक का गठन हो रहा है। वह उत्पादन की प्रक्रिया से दूर मॉनिटरों, स्विचों, लाइटों के पास सूचना के व्याख्याकर्ता के रूप में बैठता है।"[38] इस बदलते समाज में श्रम और पूँजी के रिश्ते के संबंध में एक नए क़िस्म की व्याख्या प्रस्तुत की है, मार्क पोस्टर का कहना है ''सूचना पद्धति उस सर्वहारा का अंत घोषित करता है जिसकी बात मार्क्स ने की थी। फैक्टरियों में कंप्यूटर लगाने से मजदूर और मशीन के संबंधों के बीच मध्यस्थ आ जाता है। फलस्वरूप एक नए क़िस्म का श्रमिककर्ता गठित होता है।" कंप्यूटर लेखन के संबंध में मार्क पोस्टर का विचार है ''कंप्यूटर लेखन वह खेल त्वरित बनाता है जिसे संरचना सही करने के क़दम के रूप में रखती है जो कि मूलगामी

होती है और लेखक-केंद्रीयता के तर्क के विरुद्ध होता है।" टी.वी. लोगों को उत्साहरहित किस प्रकार बनाती है, इस संबंध में हरबर्ट ने कहा है कि "व्यक्ति में निष्क्रियता को पैठाने के लिए टेलीविज़न सबसे नया और सर्वाधिक प्रभावशाली उपकरण है। टी.वी. देखने के आँकड़े अपने आप में पंगु बना देने वाले हैं।"

आज के युग में इंटरनेट की भूमिका पर रवींद्र शुक्ला ने इस प्रकार रोशनी डाली है, "...'इंटरनेट' ने प्रजातंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में प्रख्यात 'प्रेस' या समाचार माध्यम (न्यूज़ मीडिया) के रूप में स्वयं को पेश कर समाचार पत्र-पत्रिकाओं, समाचार एजेंसियों (अर्थात् प्रिंट माध्यम), रेडियो व टेलीविज़न (इलेक्ट्रॉनिक माध्यम) के साथ खड़े रहने की दावेदारी पेश की है।" जनतंत्र के कमज़ोर होने से मालिकों का वर्चस्व किस प्रकार बढ़ता है, इस बारे में डॉ. श्याम कश्यप का कहना है "निजी स्वामित्व वाले चैनलों में सबसे ज़्यादा तो ख़बरों को मालिक ही नियंत्रित करते हैं चूँकि पूँजी लगाने वाले वे होते हैं और उनके पैसे से ही चैनल चलता है इसलिए यह आम तौर पर मानकर चला जाता है कि जो मालिक कहेगा वही होना है। पत्रकारों का महत्त्व केवल ख़बरें दिखाने के लिहाज़ से ही नहीं होता, बल्कि ख़बरें न दिखाएँ या ख़बरों को दबा दें, इसकी वजह से भी उनकी पूछ होती है।" पत्रकारिता का यह बुनियादी नियम है कि बिना जाँचे -- परखे ख़बर को छाप, सुनाया या दिखाया नहीं जाना चाहिए। मगर अधकच्ची और अपुष्ट ख़बर दिखा दी जाती है। जब पता चलता है कि ख़बर ग़लत है तो उसे चुपचाप हटा दिया जाता है। न खेद प्रकट किया जाता है और न माफ़ी माँगी जाती है।

सूचना क्रांति ने विभिन्न तरह की संभावनाओं को जन्म दिया है। इन संभावनाओं के बीच से चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं। दरअसल प्रौद्योगिकी के मालिकाना को जब तक नहीं तोड़ा जा सकता है तब तक मानवता की रक्षा नहीं हो पाएगी। यह सच है कि प्रौद्योगिकी विकास से समाज में बुनियादी परिवर्तन आ जाता है किंतु इस परिवर्तन से मुनाफ़ा अर्जित करने वाले को ही अधिकार लाभ होता है। सही अर्थों में देखा जाए तो सूचना क्रांति ने पूँजी को ताक़तवर बनाने का प्रयास किया है तथा श्रम की अपराजेयता पर सवाल उठाया गया है। जबकि बार-बार यह प्रमाणित हुआ है कि पूँजी और श्रम के संघर्ष में अंतिम जीत संघर्ष को मिलती है क्योंकि यह पूँजीवादी व्यवस्था संकटमुक्त नहीं है और यही कारण है कि सूचना क्रांति प्रगति ने संघर्षशील आवाज़ को और ज़ोरदार बना दिया है जिसकी गूँज पत्रकारिता के माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों में गूँज रही है। सच तो यह है कि सूचना एक हद तक चौका तो देती है किंतु सूचना यथार्थ को विजन नहीं दे पाती। यही वह बिंदु है जहाँ हिंदी पत्रकारिता को सूचना क्रांति की संभावनाओं और चुनौतियों से आमना-सामना करना पड़ता है। इसकी पड़ताल करना और उसे वैज्ञानिक तार्किक ढंग से विभिन्न विद्वानों के मतों के आलोक में हिंदी पत्रकारिता के भविष्य को सुनहला बनाना लक्ष्य रहा है ताकि भारत की एकता और अखंडता और मजबूत हो सके।

यथार्थ को समझना और उसका विश्लेषण करना हिंदी पत्रकारिता की कालजयी भूमिका रही है। सूचना क्रांति के दौर में उसकी यह भूमिका और निखरकर सामने आई है। यह सच है कि समस्याएँ अनंत हैं किंतु अनंत कठिनाइयों का सामना करती हुई हिंदी पत्रकारिता सूचना क्रांति के दौर में ऊर्जस्वित हो रही है। इसके चलते मानव का सृजन धीरे-धीरे बढ़ रहा है तथा बढ़ते सृजन के जरिये प्रगति की धारा रफ़्तार पकड़ रही है इस रफ़्तार को समाज और संस्कृति में कार्यान्वित करने की पहल शुरू हुई है जो शांति और सुकून की गारंटी है। सूचना क्रांति के दौर में हिंदी पत्रकारिता ने ऐतिहासिकता और वैज्ञानिकता को प्राथमिकता दी है। जनमत तैयार करने की परंपरा को इसने दुरुस्त किया है। यही वजह है कि हिंदी पत्रकारिता ने अपनी विश्वसनीयता को विश्व फलक पर स्थापित किया है। अर्जित अधिकारों को मजबूती से पकड़ना और जन हितैषी कार्यों को जनता के बीच ले जाकर देश के हित में माहौल बनाना, इसका सराहनीय क़दम है। इस दौर में हिंदी पत्रकारिता के पैर जमीन पर है और उसके सिर आसमान में। निश्चित रूप से हिंदी पत्रकारिता ने इस दौर में नैतिकता के पक्ष में हक़ की लड़ाई को सच तक पहुँचाने का आलोक प्राप्त किया है।

❑

संदर्भ

1. पोस्टर मार्क, आज की दुनिया में सूचना पद्धति, (अनु.) राजिमवाले अनिल, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2010, पृ. 16, 26-27, 71, 72, 106, 138, 170, 172, 176-177
2. शुक्ला रवींद्र, सूचना प्रौद्योगिकी और समाचार-पत्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2005, पृ. 76, 80, 87, 91, 93, 95, 98
3. कश्यप डॉ. श्याम, कुमार मुकेश, ख़बरें विस्तार से, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2008, पृ. 19, 28, 24, 30, 33, 40-41, 156, 163, 192
4. मिश्र अखिलेश, पत्रकारिता : मिशन से मीडिया तक, (सं.) वंदना मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2009, पृ. 29-30, 32-33, 2010, पृ. 71
5. पंत एन.सी., जनसंपर्क विज्ञापन एवं प्रसार माध्यम, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 14-15, 31
6. शिलर आई हरबर्ट, बुद्धि के व्यवस्थापक, (अनु.) मिश्र वंदना, ग्रंथ शिल्पी, 2010, पृ. 28, 31-32 एवं 103
7. तनेजा जयदेव, रंगकर्म और मीडिया, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 44
8. हरमन एस एडवर्ड, मैकचेस्नी डब्ल्यू, भूमंडलीय जनमाध्यम निगम पूँजीवाद के नए प्रचारक, (अनु.) चंद्र भूषण, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2006, पृ. 15, 26, 32 एवं 33

मनीषा गिरी

राष्ट्रवाद की विधिक अवधारणा

जैसा कि हम सब जानते है राष्ट्रवाद अंग्रजी के Nationalism और उर्दू के कौमियत का पर्याय है। सामान्य अर्थो में राष्ट्रवाद शब्द का अर्थ देशभक्ति या देश प्रेम से लिया जाता है, जबकि दोनों में अर्थ-भेद है। हाँ राष्ट्रवाद और देशभक्ति के कुछ तत्व एक-दूसरे से आवश्य मिलते हैं। अपने राष्ट्र के प्रति अनुराग, भक्ति आदि धारणाएँ जो भावनात्मक धरातल पर एक दूसरे को बाँधती या जोड़ती है, साथ ही यह कभी-कभी इतनी उग्र हो जाती हैं कि अपने को श्रेष्ठ तथा अन्य को तुच्छ समझने लगती हैं। जैसे एक सैनिक में देश भक्ति की भावना होती है। यह भी राष्ट्र प्रेम है तथा राष्ट्रवाद में सभी जाति, संस्कृति के व्यक्ति साथ रहते हैं देश के विकास और उन्नति में सहयोग करते हैं।

देशभक्ति का संबंध हृदय से होता है, यह अनुराग का अपार संसार है। यहाँ उग्रता का प्रवेश नहीं है। राष्ट्रवाद तर्को द्वारा अभिप्रेत होता है, यह वैचारिक होता है और अंतत यह एक विचारधारा का रूप ले लेता है। सामंतवादी समाज व्यवस्था में जन्म भूमि, स्वदेश, देश का ही महत्व था, जहाँ जनता की भक्ति-प्रेम अनुराग मात्र अपने शासक, राज्य अथवा सामंत तक ही सीमित होता था लेकिन आज यह अपने संकुचित घेरे से बाहर निकलकर एक विराट रूप धारण कर चुका है जिसे हम राष्ट्रवाद के रूप में देख रहे हैं।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यूरोपीय देशों में एक ऐसी चिंगारी सुलग उठी थी, जिसने साम्राज्यवाद, सामंतवाद, उपनिवेशवाद के प्रति लोगों की भावनाओं को धधकाने का काम किया। फ्रांस की क्रांति इसका ज्वलंत उदाहरण बन कर सामने आई। फ्रांस की क्रांति ने अन्य यूरोपीय देशों, राष्ट्रों को जैसे अर्द्ध-निद्रा से झकझोर कर जगा दिया। इस क्रांति के परिणाम को देखकर अन्य राष्ट्रों में जिस तरह राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ वहीं आगे चलकर 19वीं शताब्दी के आरंभिक काल में 'राष्ट्रवाद' कहलाया। फ्रांस की क्रांति से उभरने वाला राष्ट्रवाद सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, और कला के प्रति प्रेम, अनुराग एवं गौरव की भावना को लेकर बढ़ता हुआ, धीरे-धीरे संपूर्ण विश्व में अपना विस्तार करता गया और आज राष्ट्रवाद की जो अवधारणा है, वह मात्र अपनी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और कला के प्रति प्रेम अथवा अनुराग मात्र नहीं रह गई है।

राष्ट्रवाद एक जटिल, बहुआयामी अवधारणा है जिसमें अपने राष्ट्र से एक साझी सांप्रदायिक पहचान समावेशित है। यह एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में अभिव्यक्त होता है। जो

किसी समूह के लिए ऐतिहासिक महत्त्व वाले किसी क्षेत्र पर सांप्रदायिक स्वायत्तता और कभी-कभी संप्रभुता हासिल करने और बनाए रखने की ओर उन्मुख है। इसके अतिरिक्त, साझी विशेषताओं, जिनमें आमतौर पर संस्कृति, भाषा, धर्म, राजनीतिक लक्ष्य ओर/अथवा आम पितरावली में एक आस्था सम्मिलित है, पर आधारित एक आम सांप्रदायिक पहचान के विकास और रख-रखाव की और, यह और उन्मुख है। एक व्यक्ति की राष्ट्र के भीतर सदस्यता और संबंधित राष्ट्रवाद का उसका समर्थन उसके सहगामी राष्ट्रीय पहचान द्वारा चित्रित होता है।

वर्तमान में राष्ट्रवाद की जो अवधारणा है उसे परिभाषित करना आवश्यक है। Encyclopedia Britanica की परिभाषा पर अगर गौर करे तो उसके अनुसार राष्ट्रवाद एक मनोदशा है, जिसमें मनुष्य अपने राष्ट्र के प्रति भक्ति का अनुभव करता है। समकालीन परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेनिका की यह परिभाषा संकुचित हो गई है, क्योंकि 'राष्ट्र के प्रति भक्ति' का अनुभव करना राष्ट्र-भक्ति हो सकती है।

किसी राजनीतिक या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, राष्ट्रवाद के उद्यमों और आधारों को समझने के लिए लगभग तीन मुख्य प्रारूप है। पहला, वैकल्पिक रूप से आदिमवाद या स्थयित्ववाद जाना जाता है। एक दृष्टिकोण है जो राष्ट्रवाद को एक प्राकृतिक दृग्विषय के रूप में वर्णित करता है। इस मत की यह धारणा है कि यद्यपि राष्ट्रत्व अवधारणा का औपचारिक मंथन आधुनिक हो, पर राष्ट्र हमेशा से अस्तित्व में रहे हैं। दूसरा प्रारूप संजाति प्रतीकवाद की है जो एक जटिल दृष्टिकोण है, जो राष्ट्रवाद को पूरे इतिहास में एक गत्यात्मक, उत्क्रांतिकारी दृग्विषय के रूप में प्रसंगीकृत करके, और एक सामूहिक राष्ट्र के ऐतिहासिक अर्थ से ओतप्रोत राष्ट्रीय प्रतीकों से व्यक्तिपरक संबंधों के एक परिणाम के रूप में राष्ट्रवाद की ताकत का आगे परिक्षण करके, राष्ट्रवाद को समझाने का प्रयास करता है। तीसरा और सबसे हावी प्रारूप है आधुनिकतावाद, जो राष्ट्रवाद को एक हाल के दृग्विषय के रूप में वर्णित करता है जिसे अस्तित्व के लिए आधुनिक समाज की संरचनात्मक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

अवधारणाएँ : 1. नागरिकता, 2. आप्रवास, 3 अवैध आप्रवास, 4. देशीकरण; और 5. लीव टू रिमेन अराष्ट्रिकता।

'राष्ट्रवाद' के स्वरूप निर्धारण की कठिनाई को व्यक्त करते हुए पाश्चात्य विद्धान क्लार्कसन ने लिखा कि राष्ट्रवाद एक ऐसी धारणा है जिसे परिभाषित कर पाना कठिन है। क्लार्कसन के अनुसार ''चिर-परिचित होता हुआ भी राष्ट्रवाद पाप की धारणा के समान परिभाषा से परे है।'' हैंस कोलन ने इसे ''राष्ट्रवाद की उत्पत्ति मस्तिष्क की एक विशेष दशा कहा है। शूमैन ने अपनी पुस्तक की एक इंटरनेशनल पॉलिटिक्स में लिखा है कि ''राष्ट्रवाद जातिवाद का विकसित रूप है, जिसमें एक वृहद भू-खंड में बसने वाली जाति विशेष की सामाजिक-एकता की सीमाएँ भाषा और संस्कृति की सीमाओं से एकाकार रहती हैं। यह परिभाषा राष्ट्रवाद की जो व्याख्या करती है वह काफ़ी सीमित और संकुचित अर्थों के दायरे में है क्योंकि आधुनिक दौर में राष्ट्रवाद का जो रूप सामने आया है उसके अनुसार इसने जाति, संस्कृति, भाषा आदि

जैसी सीमाओं को लाँघकार वैचारिकता को प्रधानता दी है और सार्वभौमिकता के साथ एकाकार हो गया है।

प्रोफेसर 'हैज' ने राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''आंशिक रूप से राष्ट्रवाद स्वदेश प्रेम है, परंतु राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र के सदस्यों के कार्य सदैव उचित होते हैं। सच है कि राष्ट्रवाद के भीतर मूल तत्व में बीज रूप से स्वदेश प्रेम राष्ट्र साहित्य कला एवं इतिहास के प्रति गर्व की भावना समाहित होती है। लेकिन उसे (राष्ट्रवाद) मानने के लिए वर्तमान परिस्थितियों महत्वपूर्ण एवं मुख्य बन जाती है। अपने राष्ट्र के प्रति गर्व करना राष्ट्रवाद के बहुपक्षीय आदर्शों पर चोट पहुँचाना है। एक आदर्श राष्ट्रवाद में अन्य राष्ट्रों के प्रति सम्मान की भावना सम्मिलित होती है।

राष्ट्र के विकास पर चर्चा करते हुए ए.आर. देसाई लिखते हैं राष्ट्र ऐतिहासिक तौर पर विकसित होता है, यह भाषा, भूक्षेत्र, आर्थिक जीवन और सांस्कृतिक ऐक्य में परिलक्षित मनोवैज्ञानिक अस्तित्व का स्थिर निश्चित संयोग है।

इसी प्रकार, मार्क्सवाद ऐसे राष्ट्रवाद का विरोध करता है जहाँ भाषिक, भौगोलिक, सामाजिक, वर्गीय, जातिय, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पूँजीवादी एकता के आधार पर उसका जन्म होता है। राष्ट्रवाद को एक न्यायोचित रूप से निर्धारित सीमा के भीतर बंदिश करना राष्ट्रवाद को संविधानी रूप देना और राज्य की एक विशेष संस्था द्वारा जातियों को एक-दूसरे से पृथक् करना यह है सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता का सैद्धांतिक आधार। यह विचार सर्वथा पूँजीवादी तथा सर्वथा सत्य है। सर्वहारा राष्ट्रवाद के किसी भी प्रकार की सहमति का समर्थन नहीं कर सकता इसके विपरीत वह जो कुछ भी राष्ट्रीय भेदों को मिटाने और राष्ट्रीय प्राचीरों को ढहाने में सहायक उसका समर्थन करता है जो कुछ जातियों के संबंधों को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाता है और इन्हें घुल-मिल जाने की दशा में प्रवृत्त करता है, उसका वह समर्थन करता है। इसके भिन्न आचरण प्रतिक्रियावादी, राष्ट्रवादी, कूपमंडूकवाद का पक्ष ग्रहण करना है।

❑

संदर्भ

1. सुनलिनी कुमार (2008), नेशनलिज़्म, राजीव भार्गव और आचार्य (संपा.) पॉलिटिकल थ्योरी, ऐन इन्ट्रोक्शन, पियर्सन लोंगमेन, नई दिल्ली।
2. एस.सेठ (1995), मार्क्सिस्ट थ्योरी एंड नेशनलिस्ट पॉलिटिक्स सेज, नई दिल्ली।
3. ए. स्मिथ (1994), नेशनलिज़्म, अरीडर, खंड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ऑक्सफोर्ड।
4. ई.जे. हॉब्सबॉम (1089), नेशंस एंड नेशनलिज़्म सिंस 1789 कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रिज।
5. भारतीय स्वाधीनता संग्राम राजनीतिक चेतना का विकास

डॉ. साधना गुप्ता

'अनुवाद विधा का जीवन भाष्य नाटक सेतु के आर-पार'

जीवन सतत प्रवाहमान है परंतु हर दस कोस पर पानी व बानी में बदलाव आता है परिणाम स्वरूप विचार एवं अभिव्यक्ति में परिवर्तन होता जाता है। अतः मानव की जिज्ञासा की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण अनुवाद विधा का प्रारंभ हुआ। एकाधिक भाषाओं के विशेषज्ञ विद्वान परस्पर भाषाओं में अभिव्यक्त अभिव्यक्तियों का अनुवाद कर सभी के लिए सुलभ बनाने का कार्य करने लगे जिसकी उपलब्धि वैश्वीकरण के रूप में आज हमारे सामने है। ज्ञान का विस्तार करने वाली इस विधा के नकारात्मक पहलू भी हैं, व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं। जिन्हें सामान्यतः नज़रअंदाज कर दिया जाता है। लंबे समय तक अनुवाद विधा से जुड़े रहने के कारण श्रीमती सन्तोष खन्ना जी ने इन्हें व्यावहारिक धरातल पर अनुभव किया। उसी का सजृनात्मक रूप हैं नाटक 'सेतु के आर-पार'।

नाटक में कुल 5 अंक है। प्रथम व द्वितीय अंक में तीन-तीन दृश्य हैं, तीसरे अंक में दो दृश्य है तथा चतुर्थ एवं पंचम अंक में एक-एक दृश्य का विधान है। क़ानून एवं न्यायालय से लंबे समय तक जुड़ी होने एवं न्यायाधीश के पद के गुरूवर भार को वहन कर चुकी सन्तोष खन्ना जी ने न्यायालय के वातावरण में संपूर्ण नाटक की परिकल्पना साकार की हैं। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्यायपालिका उच्चतम है परंतु उसमें व्यावहारिक स्तर पर अनेक खामियाँ हैं। अतः नर्क की न्याय व्यवस्था की परिकल्पना की गई है। न्यायाधीश है स्वयं चित्रगुप्त, जो सभी प्राणियों के कर्मों का लेखाजोखा रखते हैं और निष्पक्षता से निर्णय करते हैं।

प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का प्रारंभ नर्क में चित्रगुप्त के परंपरागत परिधान में सिंहासन पर विराजमान एवं सावधान मुद्रा में खड़े महादूत, कुछ यमदूतों से होता है जहाँ प्रभामंडल से युक्त कुछ लोगों को अभियुक्त बना जंजीरों से जकड़ कर लाया जाता है। जिन्हें प्रभामंडल के कारण चित्रगुप्त साहित्यकार के रूप में इंगित करते हैं। महादूत उनका परिचय 'अनुवादक' के रूप में करवा कर अनुवादक शब्द की व्याख्या करते हैं -- ''दूसरों की बात पुनः कहने वाले जिन्हें इतावली कहावत में ''त्रादूतोरे-त्रादीतोर'' अर्थात् प्रवंचक कहा गया है। पैरवी पूर्ण ईमानदारी से की जाती है, आरोप-पत्र प्रस्तुत करते हुए अनुवाद व अनुवादकर्ता में अंतर को स्पष्ट किया जाता हैं। अंग्रेज़ी साहित्यकार डॉ. जॉनसन के कथन द्वारा काव्य के अनुवाद को असंभव बताया जाता है क्योंकि शब्द के स्थान पर शब्द रख देना मात्र अनुवाद नहीं है उसकी आंतरिक लय, काव्य के काव्यत्व

को रूपांतरित करना असंभव हैं। पद्यमय अनुवाद असंभव है। चित्रगुप्त के माध्यम से अनुवाद के उद्देश्य की बात भी उठाई जाती हैं।

यहाँ लोकतंत्र में शासन व्यवस्था के सैद्धांतिक व व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टि डालते हुए जाँच के नाम पर आयोग बैठा कर न्याय प्रक्रिया को वर्षों तक लंबित रख मामला ठंडा करने एवं अपराधियों की गतिविधियाँ अबाध चलते रहने की बात भी कही गई हैं। कुबेर एवं इंद्र के दबाव का हवाला देकर लचर न्याय व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है। हृदय परिवर्तन कर अपराधी के सुधार की बात भी की गई है। साथ ही 'नर्क में किसी निर्दोष को दंड नहीं मिलता'' कह कर नर्क की न्याय व्यवस्था की निष्पक्षता बता कर नर्क को पृथ्वी से श्रेष्ठ सिद्ध किया है और इसके माध्यम से लोकतंत्र में शासन व्यक्ति द्वारा नहीं वरन् क़ानून द्वारा संचालित होना चाहिए, -- यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

दृश्य परिवर्तन होता है रचनाकार द्वारा अनुवाद जाति के विरुद्ध आरोपों के वाद को 'अनुकवाद' नाम देते हुए अनुवादक का अनुक, अनुवादिका को अनुका रूप में संक्षिप्तकरण की बात कह वर्तमान समय की संक्षिप्तिकरण की प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है। प्रतिवेदन का अध्ययन और आरोप-पत्र प्रस्तुत किया जाता है। अनुवादक अनुवाद शब्द को विद्वान कैटफोर्ड के कथन द्वारा परिभाषित करता है -- ''एक भाषा की पाठ्य सामग्री का दूसरी भाषा की समतुल्य पाठ्य-सामग्री द्वारा प्रतिस्थापन ही अनुवाद है।'' (पृ.14) इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादक को दो भाषाओं -- स्रोत भाषा एवं लक्ष्य भाषा में निष्णात होना आवश्यक है, इसके विपरीत उच्च कोटि के साहित्यकार के लिए एक भाषा का ज्ञान ही पर्याप्त होता है। यहाँ भाषा के जन्म के साथ ही अनुवाद के जन्म की बात से अनुवाद की प्राचीनता भी सिद्ध की गई है, शाब्दिक व्यत्पत्ति भी बताई गई है। ऋग्वेद से लेकर पाणिनी तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है यहाँ तक कि ''हर व्यक्ति अपने मानस में उठने वाली तरंगों का विचार में विश्लेषण कर उन्हें कार्य रूप में अनूदित करता है''। (पृ.16) यह कह कर प्रत्येक व्यक्ति को अनुवादक सिद्ध किया है। स्थान भेद से भाषा भेद अतः मानवीय जिज्ञासा को अनुवाद की आवश्यकता व अविष्कार का हेतु बताया है। वर्तमान में इसकी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

यहीं नर्क की स्थापना का कारण भी भाषा भेद को बताया है क्योंकि परस्पर विचारों को न समझ पाना ही पाप का हेतु बनता है। अतः अनुवाद कृत्य दुष्कर है -- नट की रस्सी पर चलने के समान। यहाँ अनुवाद को कला, शिल्प व विज्ञान का संगम भी सिद्ध किया गया है। विषय की गंभीरता से वातावरण को नीरस होने से बचाने के लिए हास्य व व्यंग्य का सहारा लिया गया है, बीच-बीच में टिप्पणियाँ प्रस्तुत की गई है, जो लोकतंत्रा में वाक् स्वतंत्रता बनाम अराजकता के तथ्य पर भी प्रकाश डालती है।

विषय विशेषज्ञ के रूप सिद्धांतकार की उपस्थिति संपूर्ण नाटक में हैं। जो चित्रगुप्त द्वारा कौन-सी भाषा स्रोत या लक्ष्य में शपथ ग्रहण करेंगे कहने पर ''महाराज मेरे लिए दोनों समान

है'' कह मूल व अनूदित कृति में कोई अंतर नहीं होता यह स्पष्ट करते हैं। अनुवाद को कला सिद्ध करते हुए मूल रचनाकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर विचार, भाव और भाषा में लालित्य एवं चमत्कार उत्पन्न करने, रचनात्मकता की आंतरिक लय को रूपांतरित करने, आत्म साक्षात्कार द्वारा मूल रचनाकार के मानस में प्रवेश करने को एक सुंदर पुष्प की सुगंध को दूसरे सुंदर पुष्प में उड़ेलने की कला बतलाते हैं। दर्पण में प्रतिबिंब तुल्य भी, दर्पण जितना बढ़िया और स्वच्छ होगा, प्रतिबिंब उतना ही स्पष्ट एवं समतुल्य होगा। (21)

पुनः दृश्य परिवर्तन होता है। अब सभा का आयोजन नरकधाम के प्रशांत कक्ष में किया जाता है। 'समतुल्यता' शब्द का स्पष्टीकरण मूल के परिप्रेक्ष्य में लेने की बात कर, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किए गए अनुवादों के अंतर की बात भी उठाई गई हैं। अनुवाद को 'शिल्प' सिद्ध करते हुए अनुवाद कार्य करने की कुशलता जिसमें भाषा प्रयोग, संरचनात्मक बोध और वाक्य विन्यास समाहित है को शिल्प बताते हुए कला को साध्य, शिल्प को साधन एवं इस साधन के प्रयोग की विधि को 'विज्ञान' कहा है तथा इस तरह अनुवाद को अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान के अंतर्गत स्थान दिया है।

विषय विवेचन-विश्लेषण, निष्पक्षता एवं पूर्ण तटस्थता से हो अतः वादी-प्रतिवादी दोनों की उपस्थिति की पूर्ति हेतु समस्त साहित्यकारों के समुच्चय स्वरूप प्रभामंडल समुच्चय धारक साहित्यकार का प्रवेश दिखलाया है। चित्रगुप्त द्वारा उनके सम्मान स्वरूप अपना आसन देने की बात भी की गई है। वही प्रत्युत्तर में ''साहित्यकार के लिए धरा या कोई शिला ही आसन हो सकता है'' कहला कर उसके जमीनी जुड़ाव को दर्शाया है। यहाँ बड़ी ही कुशलता से लेखिका ने वर्तमान साहित्यकारों की सुविधाभोगी एवं पुरस्कारों के मोह में दिशा भ्रमित मनोवृत्ति को भी उजागर कर दिया है।

पुनः काव्य सृजन और अनुवाद प्रक्रिया को तुलनात्मक आधार प्रदान करते हुए संवेदना की अनुभूति पर आधारित मन में उठने वाले भावों का अनुवाद काव्य सृजन एवं अनुवादक के मन में मूल रचना के अर्थप्रकाश से भाव प्रस्फुटन होने पर मूल रचना में व्यक्त भावों को ही लक्ष्य भाषा में अभिव्यक्ति देन की बात कही है। अनुवाद को पुनःसृजन कहने का कारण भी यही है। (पृ.28) साहित्यकार के लिए भावों को भाषाबद्ध करते समय कोई सीमा नहीं होती परंतु अनुवादक के लिए होती है। विषय स्पष्टीकरण के लिए एक कहावत भी प्रस्तुत की गई है -- ''It is the man who means not the word'' अर्थात् अर्थ भाषा मुक्त हो सकता है, मन से मुक्त नहीं। (पृ.29) यहीं कारण है कि हर महत्त्वपूर्ण मूल रचना का प्रत्येक शती में अनुवाद होता है।

विषय की सूक्ष्म विवेचना करते हुए साहित्यकार की सीमाओं का भी उल्लेख किया गया है वह यह कि कवि को रचना प्रक्रिया के दौरान अपनी समूची साहित्यिक परंपराओं से मुखातिब होना होता है जबकि अनुवादक को भाषा के स्तर पर अंतरण के लिए तैयार माल मिलता है। परंतु यह गुरूतर कार्य है क्योंकि अनुवादक में दो भाषाओं के गहन ज्ञान के साथ-साथ रचनात्मक

प्रतिभा भी होनी चाहिए, साथ ही आवश्यक है विषय ज्ञान एवं सांस्कृतिक परिवेश से परिचय।

यहीं यह प्रश्न भी उठाया गया है कि साहित्य सेतु स्वरूप ऐसे अनुवाद व अनुवादक को अपेक्षित सम्मान क्यों नहीं मिलता? गीताकार वेदव्यास की उपस्थिति द्वारा कालगत अंतराल को पाट अनुवाद के विविध आयामों को पर्त-दर-पर्त खोलने का प्रयास प्रारंभ होता है। गीताकार द्वारा कवि की सृजनशीलता पर यह कहकर आपत्ति उठाई गई हैं कि कुछ लोग दूसरे की कृति के अंशों का अनुवाद कर अपने नाम से छपवाते हैं। उदाहरण के रूप में रामचरित मानस के रचयिता तुलसीदास का उल्लेख करते हैं जिन्होंने अपने मानस में 72 ग्रंथों से अंश लिए हैं। इस संपूर्ण प्रसंग का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें अनुवाद का स्वाद न हो, उसकी गंध न हो क्योंकि प्रत्येक रचनाकार समूची साहित्य परंपरा साथ लेकर चलता है उसे सामग्री तो कहीं न कहीं से लेनी ही पड़ती है। उसकी सृजनात्मक प्रतिभा मूल रचना को तत्कालीन आवश्यकतानुसार पुनर्जीवन प्रदान करती है तो वे रचनात्मक साहित्य के अंतर्गत मौलिक रचना ही मानी जाती है। लेखिका ने यहाँ मूल रचना व अनूदित कृति में बड़ी सहजता से अंतर कर दिया हैं।

अनुवाद के प्रकार शब्दानुवाद, भावानुवाद, व्याख्या, भाष्य, टीका इत्यादि का उल्लेख करते हुए अनुवाद को मूल सृजनः-सा सृजन बताते हुए अनुवादक को पोषण सुख मिलने की बात कहीं है, यशोदा की तरह। (पृ.40) कुछ लोग अनुवाद को गंभीरता से नहीं लेते, सहज साध्य मानते हैं जिसका प्रारंभ बालपन में शिक्षा के आरम्भ के साथ ही हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण लेने की बात से प्रथम अंक का पटाक्षेप हो जाता है।

अंक परिवर्तन के साथ स्थान परिवर्तन भी होता है। दूसरे अंक से दृश्य योजना पृथ्वीलोक पर अनुक कार्यालय में अनुवाद परीक्षा की तैयारी से होती है। लुभावने विज्ञापन द्वारा यमदूत उद्घोषक के रूप में दूरदर्शन से परीक्षा का विज्ञापन करते हैं। पुनः दृश्य परिवर्तन, अनुवाद प्रतियोगिता का आयोजन, अनुवाद की परख से पता चलता है अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है -- He delivered the letter to the hospital 'का अनुवाद' उसने अस्पताल में पुत्र को जन्म दिया'' (पृ.43) किया जाता है। यहाँ अनुवाद की त्रुटि दिखाने के साथ-साथ लेखिका भारतीय जनमानस में व्याप्त पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा एवं महत्त्व को उजागर करने में सफल रही हैं। चित्रगुप्त के माध्यम से उन्होंने इस मानसिकता को अधर्म व अन्याय कह कर निंदा की है। इस प्रतियोगिता की आयोजना द्वारा लेखिका अनुवाद के क्षेत्रा में आने वाली अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों को उठाने में सफल रही है। प्रथम -- काल, स्थान, संदर्भ आदि स्पष्ट न होने के कारण सही अनुवाद नहीं हो पाता। द्वितीय -- कविता का अनुवाद गद्य में या पद्य में? कविता को ज्ञान के लिए नहीं रसास्वादन के लिए पढ़ा जाता है अतः उसके अलंकार, बिंब विधान, कल्पना, रस योजना, मधुरता, लय, संगीतात्मकता इत्यादि काव्यानुवाद के माध्यम से ही अंतरित हो सकते है। तृतीय -- भाषायी आवरण से परे के अर्थ को पकड़ना अत्यंत

कठिन है। उदाहरण के रूप में ''आँचल में है दूध और.....'' पक्ति में 'आँचल' का पर्याय हो ही नहीं सकता क्योंकि इसमें जो सूक्ष्म व शिष्ट अभिव्यक्ति है, वह भारतीय संस्कृति की प्रतीक है। चतुर्थ -- प्रत्येक संस्कृति में अपने सामाजिक अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्दावली होती है जिसके समकक्ष शब्दावली अन्य संस्कृति में न होने पर उस शब्द के भाव को कैसे सुरक्षित रखे? लेखिका ने समाधान प्रस्तुत करते हुए व्यावहारिक धरातल पर हल प्रस्तुत किया है ''समवेदातः यथासाध्य न जोड़ो, न छोड़ो''। (पृ.49) पंचम -- अनूदित कृति में कितना छोड़ा या जोड़ा गया है? इसका मूल्यांकन 'मूल' से मिलान कर किया जाए। इसीलिए उसे दर्पण का प्रतिबिंब कहा है क्योंकि प्रतिबिंब मूल नहीं होता। इसी के साथ दृश्य दो समाप्त हो जाता है।

तृतीय दृश्य में अनुवाद संगोष्ठी का-सा वातावरण उपस्थित कर अनुवाद प्रक्रिया क्या है, यह स्पष्ट करने के प्रयास में कुछ प्रश्न भी उठाए गए हैं। प्रथम -- अनुवाद से मौलिक लेखन का अहित होता हैं क्योंकि इससे नव-चिंतन में बाधा आती है। लेखिका ने मौलिक लेखन की संवेदनशील अनुभूति एवं उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति को **बंद गुलाब की कली का परत-दर-परत खुलने के समान** बताते हुए अनुवाद को चिंतन के द्वार पर शिला रखने के समान बताया है जिसे हटाने की अनुवादक 'के मन में' इच्छा ही नहीं होती। (पृ. 52) यहाँ अनुक एक द्वारा अनुवाद में स्व के विसर्जन से पुनःसृजन की बात कह अपना पक्ष रखा जाता है। द्वितीय -- अनुवाद दूसरी भाषाओं को सीखने से रोकने में एक शस्त्र बन गया हैं क्योंकि लोग अनुवाद से ही काम चलाने लगे हैं। यहाँ तक कि अनुवाद से ही अनुवाद किए जा रहे हैं। परिणाम स्वरूप अनुवादक की निजी संवेदना और पूर्वाग्रह युक्त चिंतन से मूल रचना के खरेपन से लोग परिचित नहीं हो पाते। तृतीय -- अनुवाद से रचना अपने मूल रूप से दूर हो जाती है, उद्दात्त एवं अद्वितीय अनुभूतियाँ औसत में परिणत हो जाती हैं अतः मूल रचना का अनुवाद हो ही नहीं सकता। इसी प्रसंग में प्लेटो एवं अरस्तू के स्मरण से यह सत्य भी सामने आता है कि ग्रीक न जानते हुए भी अंग्रेज़ी में उनके साहित्य के अनुवाद द्वारा ही हम उन्हें समझ पाए हैं। अतः अनुवाद की महत्ता को नकार नहीं सकते। यह विश्व के महत्त्वपूर्ण एवं महान कार्यों में से एक हैं जिसके अभाव में हम अपनी संस्कृति से भी परिचित नहीं हो सकते। विश्व के अनेक देशों के समृद्ध साहित्य एवं संस्कृति को नहीं जान सकते। दृश्य के अंत में यह निष्कर्ष देने का प्रयास किया गया है कि रचनात्मक साहित्य का अनुवाद संभव है, उस की अनुवादनीयता पर प्रश्न चिह्न लगाना सूर्य की उपस्थिति को अस्वीकार करने के समान है। (पृ. 59) चूँकि अनुवाद एवं संस्कृति का दूसरी संस्कृति में अंतरण की प्रक्रिया है अतः आंग्ल साहित्य के स्वच्छंदतावाद को हिंदी में छायावाद के रूप में आना, अनुवाद का एक रूप बताने का प्रयास किया गया है। यहीं अंक समाप्त होता है।

छापेखाने के अविष्कार एवं प्रचलन से पूर्व तक अधिकांश साहित्य कंठ में ही सुरक्षित रहा हैं। सुनकर कठस्थ कर लेना, पीढ़ी-दर-पीढ़ी कथा आगे बढ़ती रहती थी। इस परंपरा का सुरक्षित

रखने वाला समाज का एक वर्ग ऐसा भी है जो इतिहास के उज्ज्वल चरित्रों से समाज को परिचित करवाने के उद्देश्य से किसी प्रसिद्ध कथा से कथ्य, संवाद या विचार लेकर लोकभाषा में उसकी संवादात्मक-गीतात्मक प्रस्तुति करता है। वे आवश्यकतानुसार जनजागृति में सहायक प्रसंगों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। तीजन बाई को कौन नहीं जानता? इस तरह की प्रस्तुतियाँ प्रसिद्ध तो होती हैं, जन समुदाय को रसास्वाद भी करवाती हैं परंतु इस प्रयास में मूल कथा को इतना तोड़ा-मरोड़ा जाता है कि वह अपने मूल रूप को खो देती है। तृतीय अंक, प्रथम दृश्य में ऐसे ही अनुवादकों का त्रिशंकु के रूप में उल्लेख किया गया है। शेक्सपीयर के नाटक के अनुवाद को आधार बनाकर लाला संतराम, रांगेय राघव के अनुवादों की चर्चा भी की गई हैं। विजातीय संस्कृति में ढाल अनुवाद परंपरा पर भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा 'दुर्लभ बंधु' (मर्चेंट ऑफ वेनिस) को प्रस्तुत कर अनुवाद द्वारा भाषा विकास एवं राष्ट्रीय जागरण की बात उठाई है।

अनुवाद का ''मूलनिष्ठ होने के साथ जीवन्त होना पहली शर्त है'' To be or not to be (हेलमेट शेक्सपीयर) के अनुवाद के माध्यम से इस तथ्य के मूल्यांकन का प्रयास सफल बन पड़ा है। नाट्यानुवाद में काव्य बिंब के साथ-साथ नाट्य बिंब एवं प्रयुक्त संवादों की संश्लिष्टता को ध्यान में रखते हुए कहीं गंभीर, कहीं व्यंग्यात्मक, कहीं हास्यात्मक संवादों की विविध छटाओं के अनुवाद की ओर भी ध्यानाकृष्ट किया गया है। अनुवाद मूल्यांकन के इस प्रसंग में वर्तमान शोध कार्य की धीमी गति, लचर न्याय व्यवस्था जिसमें न्याय कम उत्पीड़न अधिक है, वह केवल ताकतवर व दौलत वाले का सहयोगी है की यथार्थ स्थिति को भी इंगित किया है।

दूसरे दृश्य में पुनः चर्चा काव्यानुवाद विवाद पर आ जाती है और यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अनुवादक को स्रोत और लक्ष्य भाषा के बीच समानार्थकता की खोज करनी चाहिए। वस्तुतः अनुवाद व्याख्यापरक कला है। अतः मानसिक धरातल पर स्रोत भाषा की कविता की व्याख्या कर उसके अर्थ को ग्रहण करना होता है जिससे कवि का अर्जित अनुभव अनुवादक का अर्जित अनुभव हो जाता है तब लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा की शैली को अपना कर वह पुनः सृजन कर पाता है। यह निचोड़ हमें इस रस सिद्धांत के आरोपवाद व्याख्या सिद्धांत के करीब ला खड़ा करता है। सांस्कृतिक व पौराणिक संदर्भ से युक्त समानधर्मा व्यंजनाएँ न मिलने पर पाद टिप्पणी या कोष्टक में व्याख्या देने की बात भी की गई है।

छायावाद व स्वच्छंदतावाद के प्रसंग द्वारा दार्शनिक व सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का अनुवाद असंभव होने पर लक्ष्य भाषा में समानधमी अभिव्यक्तियों के प्रयोग की बात की है क्योंकि ''अनुवाद एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया है तथा सभी संस्कृतियों में शाश्वत विचारों की एक अजस्त्र निर्झरणी प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती है।'' (पृ. 85) इसे रस सिद्धांत की भाषा में इस तरह समझ सकते हैं प्रत्येक मानव में स्थायी भाव वही होते हैं। समानधर्मा परिस्थितियों में प्रत्येक मानव कमोबेश एक सी अनुभूति करता है। उदाहरण -- विश्व की किसी भी युग की किसी भी संस्कृति में मानव अपने प्रियजन के विछोह की कल्पना मात्र

से सिहर उठता है।

छायावाद के प्रसंग में लेखिका ने बड़ी कुशलता से भारतीय स्वतंत्राता संग्राम और अंग्रेज़ी सामाज्यवाद के दमन चक्र, अकाल, उग्रवाद, आतंकवाद, जनसख्या वृद्धि, सुविधाभोगी संस्कृति के दुष्परिणाम, गांधी का अहिंसा आंदोलन, पूँजीवाद का प्रारंभिक विकास, धर्म-कर्म के प्रति निष्क्रियता, आतंकवाद के पीछे कार्यरत शक्ति इत्यादि तत्कालीन सभी समस्याओं को गूँथ दिया है और युगीन प्रवृत्तियों को वाणी देने वाले इस साहित्य को परिवर्तित परिस्थितियों में अपनी ही सामंजस्यशील आर्य साहित्य साधना का युगानुकूल मोड़ सिद्ध किया है।

चतुर्थ अंक अनुवाद के उस आयाम को समर्पित है जिसके माध्यम से अंग्रेजों ने भारतीय परिवेश को विरूपित चित्रित कर भारत को गुलाम बनाकर दो सौ वर्षों तक शासन किया। समृद्धि में सोने की चिड़ियाँ और ज्ञान में विश्वगुरू कहलाने वाले वसुधैव कुटुंबकम् की भावना के उच्चादर्श को व्यावहारिक धरातल पर अपनाने वाले शांतिप्रिय आर्यावृत भारत के इतिहास को आंग्ल इतिहासकारों ने अनुवाद का सहारा ले विश्व के समक्ष तोड़-मरोड़ कर रखा। (पृ. 99) पूरी जाति को मनोवैज्ञानिक आधार पर दास बना कर उस पर अपना उपनिवेशवाद थोपना चाहा। 'फूट डालो और राज करो' की कूटनीति द्वारा भारत के टुकड़े-टुकड़े करवा दिए जिसमें अकल्पनीय रक्तपात हुआ, लाखों लोग उजाड़े गए। इन तथ्यों को सत्य प्रमाणित करने के लिए लेखिका ने इतिहास के साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं। और ''क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो'' दिनकर की इस पंक्ति को उद्धत कर अपनी ओर बढ़ने वाले हाथ को रास्ते में ही रोक देने की बात भी कही है। शेरों की संतान से खेलने वाले इस देश मे यदि आज भी हम इसे अपना ले तो हमें न तो दूसरा करगिल झेलना पड़ेगा, न ही कोई हमारी ओर आँख भी उठा कर देख सकेगा। यहीं अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से अपनी संस्कृति थोपने एवं व्यापार को सफल बनाने ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार एवं हिंदू धर्म को अधर्म बताने की अंग्रेजों की चाल का भी पर्दा फाश किया गया है।

विषय विशेष के प्रति व्यक्ति का नजरियाँ अपने लाभ को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न होता है परिणाम अंग्रेजों ने अपने फायदे के लिए अनुवाद का ग़लत प्रयोग कर हिंदू धर्म व संस्कृति पर आघात किए भारत में राजनैतिक, आर्थिक, मनौवैज्ञानिक आधार पर बहुत क्षति पहुँचाई जिसके वास्तविक स्वरूप को अनुवाद के माध्यम से ही महान् मनीषी राजा राम मोहन राय ने सबके समक्ष रखा, उसकी श्रेष्ठता इंगित की।

अंक पाँच नाटक का अंतिम अंक है जिसमें संपूर्ण कार्यवाही का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए चित्रगुप्त अनुवादक को हर प्रकार के आरोप से मुक्त करते हैं परंतु साथ ही उसका ग़लत प्रयोग करने वाले अनुवादकों आगाह भी करते है। रामधारी सिंह दिनकर की काव्य पंक्तियों के माध्यम से यह भी कहना चाहा है कि ''राष्ट्र को आदर्शवादी सिद्धांतों से नहीं चलाया जा सकता बल्कि उसके लिए अर्जुन और भीम के गांडीव और गदा की भी ज़रूरत होती है। (पृ.

19) यथार्थ का धरातल आवश्यक है।

एक दृष्टि नाटक के शीर्षक पर -- 'सेतु के आर-पार' शीर्षक सार्थक, सारगर्भित बन पड़ा है। अनुवाद विधा ज्ञान पिपासु को एक भाषा एवं संस्कृति से दूसरी अन्य भाषाओं एवं संस्कृतियों का सफर आसानी से करना सेतु का कार्य करती है। कृति का वैशिष्ट्य यह है कि लेखिका नाटक के माध्यम से अनुवाद विधा के हर पहलू का सूक्ष्मता से विश्लेषण-विवेचन करने में सफल रही हैं। वे काव्य, नाटक, दर्शन और संस्कृति सभी के अनुवाद की व्यावहारिक कठिनाइयों को प्रस्तुत कर प्रश्निल नहीं छोड़ती, समाधान भी सुझाती है। मूल सृजन से उसकी विभाजन रेखा का स्पष्ट विवेचन, अनुवादक को यशोदा की तरह पोषण सुख द्वारा आत्म संतुष्टि, हास्य-रस के पुट से गंभीर विषय को दो भिन्न लोकों के सांस्कृतिक धरातल पर प्रस्तुत कर न्याय की तराजू में तोलने के संग-संग देश की परतंत्रता के कारणों, अंग्रेजों की मानसिकता, देश जागरण, तत्कालीन एवं सामाजिक विभीषिकाओं की समवेत प्रस्तुति के लिए लेखिका बधाई की पात्र है।

मूल रूप से खड़ी बोली हिंदी में रचित इस नाटक में अनुवाद की व्यावहारिक कठिनाईयों के प्रस्तुतिकरण हेतु तुलनात्मक रूप में आंग्ल भाषा एवं साहित्य का प्रयोग भद्र समाज द्वारा आंग्ल भाषा व साहित्य के श्रेष्ठ मानने की मानसिकता को ग़लत सिद्ध कर हमारे वाङ्मय को श्रेष्ठ सिद्ध करना रहा है। छायावाद के प्रसंग का पुनः-पुनः प्रस्तुतिकरण भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। अस्तु कमोबेश रूप से इन दोनों भाषाओं का ज्ञान रखने वाले पाठक के लिए ये उदाहरण विषय स्पष्टीकरण में सफल रहे हैं। कहावतों मुहावरों का प्रयोग लक्ष्य भेदन कर रचना को सरसता प्रदान करने में सक्षम है। उपमाएँ अति सुंदर बन पड़ी है -- ''एक सुंदर पुष्प की सुगंध को दूसरे सुंदर पुष्प में उड़ेलने की कला'' कहकर संपूर्ण अनुवाद प्रक्रिया को एक वाक्य में वाणी बद्ध कर दिया है। चित्रगुप्त के न्यायालय की कल्पना नरक लोक तथा पृथ्वी लोक को समवेत प्रस्तुत कर कालगत अंतराल को पाट गीताकार से लेकर वर्तमान पात्रों की उपस्थिति एवं चिंतन को प्रभावी अभिव्यक्ति देती है साथ ही अनुवाद विधा के समग्र विवेचन के साथ भारतीय संस्कृति और परंपरा के परिप्रेक्ष्य में देशवासियों को उनकी पराधीनता एवं दुर्गति के कारणों का प्रबोधन करवाते हुए उन पर धावा बोलने की सोच प्रदान करती है।

नाटक के प्रसंग में रस की चर्चा सर्वथा वांछनीय है। विषय गांभीर्य को कम कर रोचक बनाने के लिए अंग रूप में हास्य-रस की योजना से समन्वित इस कृति में अंगी रस के रूप में काव्यशास्त्रीय चौखटे से बाहर निकल चिंतन के जिस धरातल को अपनाया गया है उसे 'बौद्धिक-रस' कहना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता हैं। शांत, शृंगार, करुण, वीर-वीभत्स रस के छीटें भी हैं। अंत शांत-रस में हुआ है।

वस्तुतः यह नाटक उस अनुवादक वर्ग का जीवन भाष्य है जिसकी श्रम साधना एवं सहायता से वैश्वीकरण की कल्पना साकार हुई है। आशा है यह, रंगमंच की कसौटी पर भी खरा उतरेगा।

❑

विशाल पांडेय

डॉ. प्रवेश सक्सेना का काव्य-संग्रह 'शून्य में खड़ी-खड़ी'

'शून्य में खड़ी-खड़ी' प्रसिद्ध वैदिक साहित्य विशेषज्ञ डॉ. प्रवेश सक्सेना की काव्य पुस्तक है। यह पुस्तक मूलतः 53 लंबी कविताओं का संकलन है। संकलित कविताएँ एक ही काल विशेष की न होकर चार दशक से चार महीने के विस्तृत कालखंड में फैली हुई हैं। लेखिका द्वारा इस कालखंड में लिखित लंबी कविताएँ इसमें संकलित हैं। लेखिका के ही शब्दों में 'जिंदगी के वे सब क्षण जिन्हें मैं कविता-रूप में पकड़ सकी वे यहाँ जीवंत हैं।' शून्य से शुरू होकर शून्य पर खत्म होने वाली इस पुस्तिका के शीर्षक की रोचक कथा कवयित्री प्राक्कथन में बताती हैं। 'शून्य में खड़ी-खड़ी' अपनी पहली ही कविता में कवयित्री अपने अनंत की खोज की बात करती हैं। जहाँ एक और यह कविता रहस्यवादी लगती हैं तो दूसरी और आध्यात्मिकता से प्रेरित जान पड़ती है --

शून्य जो कि पूर्ण है
शून्य जो अनंत है
शून्य-दृष्टि से उसी
शून्य को निहारती।

साधारण दिनचर्या में ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिनसे व्यक्ति उद्वेलित होता है और कविता-कहानी का सृजन होता है। सृजन की यह प्रेरणा व्यक्ति को कहीं से भी मिल सकती है, वह प्रेरणा अपने आस-पड़ोस से या फिर समाचार-पत्रों से भी मिल सकती है। डॉ. सक्सेना एक संवेदनशील व्यक्तित्व की धनी कवयित्री हैं जिन्होंने अख़बार की घटनाओं से प्रभावित होकर भी कविताएँ लिखी है। इन्होंने सुख और दुःख को प्रतीकात्मक रूप देकर उन्हें माँ के जुड़वा बच्चों की संज्ञा दी है जहाँ एक ओर दोनों में से दुःख माँ का दीवाना है जो चिपका ही रहता है उनके साथ और दूसरी तरफ पर सुख है नटखट, है चंचल जो उंगली छुड़ाकर भाग ही जाता है। एक स्त्री जो कि माँ है उसके दुखों का कारण उसके बच्चे न होकर उसकी परिस्थितियाँ होती हैं, कवयित्री ने बच्चों के इस प्रतीक रूप को लेकर माँ के दुखों से लिपटे रहने और सुख की बाट जोहने की सुंदर कल्पना की है। इस पूरे कविता संग्रह में पाँच-छः कविताएँ माँ व उसकी भावनाओं को समर्पित है जो कि लेखिका के अपने आस-पास के अनुभवों से प्रेरित हैं। 'बेटे का पश्चात्ताप' नामक कविता में मातृ-हन्ता परशुराम से अपनी तुलना करते हुए बेटा

ख़ुद को कोसता है, कविता का मर्म हृदयस्पर्शी है। कवयित्री ने केवल बेटे के मन के भावों को ही अपने संग्रह में स्थान नहीं दिया है, इसमें पुत्री का अपनी मृत माँ से संवाद 'अब तू कब आएगी?' जैसी सुंदर कविता भी शामिल है। वैदिक साहित्य विशेषज्ञ डॉ. सक्सेना ने अपने संग्रह में मिथकों का सहारा लेकर कई कविताएँ लिखी हैं जिसमें 'माँ (हथिनी) की करुण पुकार' जैसी करुण कविता भी शामिल है। मिथकों को नए पहलू से देखने को विवश करती यह कविता गणेश के गज मस्तक की कथा पर आधारित है, जिसमें हथिनी (जिसके पुत्र के धड़ को गणेश के लिए काट लिया गया था) पार्वती से करुण पुकार करती हुई कहती है : मैं अभागी पुत्रहीन होकर शोक-सागर में डूब गई! अपने पुत्र के मोह में तुम मेरे मातृत्व को कैसे भूल सकीं? अंत तक आते-आते हथिनी का मातृ-विलाप गर्व में परिवर्तित हो जाता है और वह कहती है --

पर अकारण नहीं हुआ बलिदान
मेरा या मेरे पुत्र का!
क्योंकि 'प्रथम पूज्य' तो आखिर
मेरे पुत्र का मस्तक ही हुआ न!

कविता के स्वर का इस प्रकार अचानक परिवर्तित हो जाना अकारण नहीं है। इस प्रकार स्वर परिवर्तन बड़ी कविताओं की पहचान है जो कि अपने में कई रसों को आत्मसात् किए होती हैं। कविता के विषय-चयन की समस्या अक्सर कवियों को आती रहती है, बड़ी-बड़ी और गूढ़ अर्थों की कविता लिखने के मोह में कई बार ऐसे साधारण विषय आँखों से ओझल हो जाते हैं जो अनेक अर्थों का उद्घाटन कर सकते हैं। बहरहाल, कविता स्वयं प्रस्फुटित होने वाली चीज है। डॉ. सक्सेना के शब्दों में 'कोई-कोई' स्थान इतना अधिक प्रभावित करता है कि कविता स्वयं प्रस्फुटित हो उठती है। यात्रा के मध्य विशेषतः रेलगाड़ी तो बहुत ही प्रिय लगती है। अतः वह भी कविता का विषय बन जाती है।' रेलगाड़ी कविता लिखते हुए लेखिका समाज की स्थिति की तुलना रेलगाड़ी से करती हैं और उसे विशेष महत्त्व देती हैं। वह लिखती हैं --

धर्म कोई, कर्म कोई हो
सबसे सबका मेल कराती।
'पंथ-निरपेक्षता' की शिक्षा
देती रोज़ रेलगाड़ी!

देश-विदेश की यात्रा करते हुए नए-नए अनुभवों को कविता में पिरोते हुए कवयित्री अपनी प्रतिभा का परिचय देती हैं। फिर चाहे वह भूटान यात्रा की कविता 'पगडंडी दूर कहीं जाती है' हो या नैनीताल यात्रा के दौरान लिखी गई कविता हो या फिर 'गोवा सागर के सौंदर्य का चित्र' हो। अपने प्राक्कथन में यात्रा और उसमें पड़ने वाले पड़ावों के विषय में लेखिका कहती हैं 'जीवन एक यात्रा है उसमें कई पड़ावों से गुजरना होता है हर राह, हर मंजिल कुछ नए अनुभव थमा देती है..' और यही अनुभव कविता का रूप ले लेते हैं। ऐसे ही एक अनुभव के विषय में 'खेकड़ी' के अरण्य-विहार के दौरान कवयित्री इन शब्दों में लिखती हैं --

ऐसी सुंदर सुबह
जब आनंद ही आनंद झर रहा हो,
कहाँ मिल पाती है
महानगरों के आगोश में?

अपने प्रियजनों की मृत्यु किसी को भी अकेला कर सकती है। साहस की बात तब है जब इन्हीं प्रियजनों को अपनी रचना के जरिए अमर करने का सामर्थ्य आपमें हो। लेखिका ने अपने इस कविता संग्रह में चार से पाँच कविताएँ अपने उन प्रियजनों को समर्पित की है जो अकारण-असमय उन्हें छोड़ कर चले गए हैं। इन कविताओं में मृत्यु से साक्षात्कार और जीवन की क्षण-भंगुरता को व्यक्त करते हुए कवयित्री कहती हैं --

उड़ने को हैं प्राण-पखेरू
मुक्त हो जीवन-पिंजर से!

समाज के विश्वासों, उसकी मान्यताओं और लोगों के व्यवहार में जो विरोधाभास है वह यदा-कदा देखने को मिल ही जाता है। भ्रष्ट समाज और लोगों की पोल खोलती हुई दो-चार कविताएँ इस संग्रह में शामिल हैं। कहीं प्रत्यक्ष रूप से लेखिका समाज की दूसरी सरकार समझी जाने वाली पंडितों की (जो लोगों के मानस पर राज करते हैं) पोल खोलती हैं --

पंडितों के अशुद्ध मंत्रोच्चार,
हर क़दम पर दक्षिणा के लिए 'हाहाकार'
ने मिलकर मन की श्रद्धा को
बस चुनौती ही चुनौती दी!

इसी प्रकार कंकरीट के जंगल के माध्यम से समाज में फैली अँधेर-नगरी में न्याय की माँग न करने की बात करती हैं : इस कंक्रीट के जंगल में,

जहाँ अब न कोई नियम है
न कोई क़ानून
न किसी को किसी से
न्याय की उम्मीद।

'और सफर चलता रहेगा' नामक कविता में अपनी सेवा-निवृत्ति के बाद जीवन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कवयित्री कहती हैं --

इन स्मृतियों के संबल से
मेरा मनन-चिंतन-दर्शन
मेरा पठन, मेरा लेखन
सब समृद्ध होता रहेगा
और सफर चलता रहेगा,
चलता रहेगा...।

उम्र के उस पड़ाव पर जहाँ लोग सेवा-निवृत्ति के बाद आराम करना अपना उद्देश्य मानते हैं वहाँ एक रचनाकार के लिए सेवा-निवृत्ति भी एक नए सफर का आरंभ है, अपनी सृजनात्मकता को सशक्त करने का एक मौका है। भाषा की बात करें तो पूरी पुस्तिका में कवयित्री ने उस भाषा का प्रयोग किया है जो साधारण से साधारण व्यक्ति को आसानी से समझ आ सकती है और जिसे आत्मसात् कहना कठिन नहीं है। आजकल प्रचलन बन गया है अपनी कविता को गूढ़ार्थी दिखाने के लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना जो आसानी से हृदयग्राह्य न हो। ऐसी शब्दावली कविता को बोझिल बना देती है लेकिन लेखिका ने क्लिष्ट शब्दावली के स्थान पर आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। इस कविता-संग्रह में चार कविताएँ ऐसी हैं जो कि अन्य भाषा से अनूदित हैं। इन्हें सरल भाषा में अनूदित करके कवयित्री ने अपने अनुवाद-कौशल का भी परिचय दिया है। 'राष्ट्रीय प्रार्थना' नामक कविता में यजुर्वेद के मूल मंत्रों को देकर आगे ही उसका हिंदी अनुवाद बहुत ही सरल भाषा में कविता के रूप में लिखा है जो कि काफी रोचक प्रतीत होता है। हिंदी भाषा के प्रयोग पर गर्व के साथ कवयित्री लिखती हैं --

देववाणी की आत्मजा
हिंदी, तुझे मेरा नमन।

अपनी अंतिम कविता 'शून्य में खड़ी-खड़ी' के साथ कवयित्री विराम लेती हैं और इतने खूबसूरत अंत के साथ ही संदेश देती हैं --

विगत-घड़ी को भूल कर
प्रस्तुत पर रख नज़र
प्रतीक्षा स्वयं बनी
भावी को सँवारती।

❑

Dr. Raj Kumar

Recognition of foreign divorce decree in India and Irretrievable breakdown of marriages: A Socio-Legal Study

Concept of "limping marriages" where a divorce is recognized in many countries in the world but not recognized in others, so the spouses are left partially divorced and partially still married. Justice is the ultimate consideration of social policy which conflicting of laws may evoke. In India, there is no enactment dealing directly with the recognition of foreign decrees of divorce and judicial Separation- except the provisions in section 13 of the Code of Civil Procedure, 1908 and Section 41 of Indian Evidence Act, 1872, which are general in character and do not deal specifically with the problem of recognition of divorces. Law Commission of India submitted its 65th report[2] on this issue and it has not been implemented to overcome this situation.

Religion of the parties marrying is immaterial relating to the decrees passed in foreign countries. The decrees could even relate to persons professing no religion.

Recognition and enforcement

A foreign judgment may be recognized by being enforced (immediately or upon suit), or by being treated as "res judicata". One of the parties may re-marry on the strength of the divorce granted in the foreign country, and then the opposite party may initiate proceedings for declaring the second marriage void or may take appropriate steps for prosecuting the re marrying party for the offence of bigamy.

In *Y. Narasimha Rao and Ors. v. Y. Venkata Lakshmi and Anr.*,[3] Hon. Supreme Court has set the conditions to validate a foreign divorce decree in India and interpreted the Section 13 of C.P.C., 1908 and these are –

Foreign judgment- *When not conclusive* : In this case[4] Court believed that the relevant provisions of Section 13 of the Code are capable of being interpreted to secure the required certainty in the sphere of this branch of law in conformity with public policy, justice, equity and good conscience, and the rules so evolved will protect the sanctity of the institution of marriage and the unity of family which are the corner stones of our societal life.[5]

Court of competent jurisdiction-Which is : Clause (a) of Section 13, C.P.C., 1908 states that a foreign decisition judgment shall not be recognised if it has not been pronounced by a court of competent jurisdiction. *It should be interpreted to mean that only that court will be a court of competent jurisdiction which the Act or the law under which the parties are married recognises as a court of competent jurisdiction to entertain the matrimonial dispute. Any other court should be held to be a court without jurisdiction unless both parties voluntarily and unconditionally subject themselves to the jurisdiction of that court.* The expression ''competent court'' in Section 41 of the Indian Evidence Act has also to be construed likewise.

Judgment on merits-What is : Clause (b) of Section 13, C.P.C., 1908 states that if a foreign has not been given on the merits of the case, the courts in this country will not recognise such judgment. This clause should be interpreted to mean (a) that the decision of the foreign court should be on a ground available under the law under which the parties are married, and (b) that the decision should be a result of the contest between the parties. The latter requirement is fulfilled only when the respondent is duly served and voluntarily and unconditionally submits himself/ herself to the jurisdiction of the court and contests the claim, or agrees to the passing of the decree with or without appearance. A mere filing of the reply to the claim under protest and without submitting to the jurisdiction of the court, or an appearance in the Court either in person or through a representative for objecting to the jurisdiction of the Court, should not be considered as a decision on the merits of the case. In this respect, the general rules of the acquiescence to the jurisdiction of the Court which may be valid in other matters and areas should be ignored and deemed inappropriate.

Judgment founded on a ground not recognised by Law of India-Effect of : The second part of clause (c) of Section 13 states that where the judgment is founded on a refusal to recognize the law of this country in cases in which such law is applicable, the judgment will not be recognised by the courts in this country. The marriages which take place in this country can only be under either the customary or the statutory law in force in this country. Hence, the only law that can be applicable to the matrimonial disputes is the one under which the parties are married, and no other law. When, therefore, a foreign judgment is founded on a jurisdiction or on ground not recognised by such law, it is a judgment which is in defiance of the Law. Hence, it is not conclusive of the matters adjudicated therein and therefore, unenforceable in this country. For the same reason, such a judgment will also be unenforceable under clause (f) of Section 13, since such a judgment would obviously be in breach of the matrimonial law in force in this country.

Judgment obtained in proceedings opposed on principles of natural justice-Effect of-Principles of natural justice-Scope of Clause (d) of Section 13 which makes a foreign judgment unenforceable on the ground that the

proceedings in which it is obtained are opposed to natural justice, states no more than an elementary principle on which any civilised system of justice rests. However, in matters concerning the family law such as the matrimonial disputes, this principle has to be extended to mean something more than mere compliance with the technical rules of procedure. If the rule of *audi alteram partem* has any meaning with reference to the proceedings in a foreign court, for the purposes of the rule it should not be deemed sufficient that the respondent has been duly served with the process of the court. It is necessary to ascertain whether the respondent was in a position to present or represent himself/ herself and contest effectively the said proceedings. This requirement should apply equally to the appellate proceedings if and when they are files by either party. If the foreign court has not ascertained and ensured such effective contest by requiring the petitioner to make all necessary provisions for the respondent to defend including the costs of travel, residence and litigation where necessary, it should be held that the proceedings are in breach of the principles of natural justice. It is for this reason that we find that the rules of Private International Law of some countries insist, even in commercial matters, that the action should be filed in the forum where the defendant is either domiciled or is habitually resident. It is only in special cases which is called special jurisdiction where the claim has some real link with other forum that a judgment of such forum is recognised. This jurisdiction principle is also recognized by the Judgments Convention of this European Community. If, therefore, the courts in this country also insist as a matter of rule that foreign matrimonial judgment will be recognised only it is of the forum where the respondent is domiciled or habitually and permanently resides, the provisions of clause (d) may be held to have been satisfied.

Judgment obtained by fraud-Effect of : 'Fraud'-Scope of the provision of clause (e) of Section 13 which requires that the courts in this country will not recognise a foreign judgment if it has been obtained by fraud, is self-evident. However, in view of the decision of this Court in Smt. *Satya v. Teja Singh*,[6] it must be understood that the fraud need not be only in relation to the merits of the matter but may also be in relation to jurisdictional facts.

Clause (f)-Judgment founded on a breach of law in force in India-Effect of from the aforesaid, discussion the following rule can be deduced for recognising foreign matrimonial judgment in this country. The jurisdiction assumed by the foreign court as well as the grounds on which the relief is granted must be in accordance with the matrimonial law under which the parties are married. The exceptions to this rule may be as follows: (i) where the matrimonial action is filed in the forum where the respondent is domiciled or habitually and permanently resides and the relief is granted on a ground available in the matrimonial law under which the parties are married; (ii) where the respondent voluntarily and effectively submits to the jurisdiction of the forum as discussed above and contests the claim which is based on a ground available under the matrimonial law under which the parties are married; (iii)

where the respondent consents to the grant of the relief although the jurisdiction of the forum is not in accordance with the provisions of the matrimonial law of the parties. The aforesaid rule with its stated exceptions has the merit of being just and equitable. It does no injustice to any of the parties. The parties do and ought to know their rights and obligations when they marry under a particular law. They cannot be heard to make a grievance about it later or allowed to bypass it by subterfuges as in the present case. The rule also has an advantage of rescuing the institution of marriage from the uncertain maze of the rules of the Private International Law of the different countries with regard to jurisdiction and merits based variously on domicile, nationality, residence-permanent or temporary or ad hoc forum, proper law etc. and ensuring certainty in the most vital field of national life and conformity with public policy. The rule further takes account of the needs of modern life and makes due allowance to accommodate them. Above all, it gives protection to women, the most vulnerable section of our society, whatever the strata to which they may belong. In particular it frees them from the bondage of the tyrannical and servile rule that wife's domicile follows that of her husband and that it is the husband's domicilliary law which determines the jurisdiction and judges the merits of the case.

Section 14- Presumption as to foreign judgments Expression ''Certified copy of a foreign judgment''-Should be read consistent with requirement of Section 86 of Indian Evidence Act. Indian Evidence Act, 1872. Section 41-''Competent court''-Which is. 822 Section 63(1)(2), 65(e)(f), 74(1)(iii), 76, 77 and 86. Foreign judgment-Photostat copy-Admissibility of. Private International Law-Matrimonial dispute Recognition of foreign judgment-Rules for recognition of foreign matrimonial judgment laid down-Hague convention of 1968 on the recognition of divorce and legal separations Article 10-Judgment Convention of the European Community. Words and phrases ''Residence-Meaning of''.

Hague Marriage Convention

The Hague Convention that compels Contracting States to recognize divorces and legal separations obtained legally in another contracting state is the Hague Convention on the Recognition of Divorces and Legal Separations.[7] The Hague Convention that harmonizes different marriage laws, the Convention on the Celebration and Recognition of the Validity of Marriages, was concluded at The Hague on 14 March, 1978 and entered into force on 1 May, 1991. Article 9 of the Convention holds that, "A marriage validly entered into under the law of the State of celebration or which subsequently becomes valid under that law shall be considered as such in all Contracting States, subject to the provisions of this Chapter."[8] Currently only three states (Australia, Luxembourg, and the Netherlands) have ratified the Convention.[9] Another three (Egypt, Finland, and Portugal) have signed it. One of the reasons that the Convention may have so few Contracting States is that states have long observed the principle of comity which has been defined in the United States as the "recognition that one nation

allows within its territory to the legislative, executive or judicial acts of another nation, having due regard both to the international duty and convenience and to the rights of its own citizens who are under the protection of its laws."[10] Article 1 of the Convention states, "The present Convention shall apply to the recognition in one Contracting State of divorces and legal separations obtained in another Contracting State which follow judicial or other proceedings officially recognized in that State and which are legally effective there." The Convention makes clear that it does not apply to any determinations about property or child custody that may accompany a divorce. Only the state of being divorced or legally separated must be recognized. There are certain exceptions. According to the Convention a divorce need not be recognized if both parties were nationals of a state which did not provide for divorce at the time of the divorce (Article 7), if the respondent in a divorce proceeding was not given an adequate chance to present his or her case (Article 8), if to do so would be "incompatible" with a previous determination as to the status of the spouses in the State where they are seeking recognition (Article 9), or if to recognize such a divorce would be manifestly incompatible with the state's public policy (Article 10). In addition, Article 20 of the Constitution allows a Contracting State to file a reservation stating that state will not recognize a divorce if at the date of the divorce, "one of the spouses was a national of a state whose laws did not provide for divorce."

There are 19 states that are parties the Convention, all of which are in Europe.[11] Many states, including the United States, which is not a Contracting State to the Convention, recognize divorces obtained abroad through the above-mentioned legal principle of comity.[12] The convention also applies to Hong Kong, to which it was extended before its transfer from the United Kingdom to China.

Suggestions

1. Jurisdiction must be based on consent and voluntary submission by the parties concerned. An opportunity for appropriate representation is to be given, keeping in view, the possible absentee, in particular.
2. Principle of Natural Justice is to be followed by the court hearing the case. It can be easily observed by sending the information to the party residing in foreign country.

   We are successfully resolving the cases of domestic and international commercial disputes in India and abroad. Likewise the cases relating to the limping marriages may be resolved with same philosophy, where courts of every country are ready to help the parties to settle their case in simple manner.
3. It is bitter truth that when there is divorce decree and other spouse is bringing it into the question of its validity. Marriage must be considered as Irretrievable Breakdown of marriage. When one of the spouse is determined that he or she is not going to reside with the other then

Irretrievable breakdown as a ground of divorce is to be adopted to resolve the problem. Couples no longer needed to show grounds for divorce, but instead, merely has to show that their relationship has suffered an irreconcilable breakdown. Many developed countries have this ground of divorce when they are living separate from a considerable time period from one another. The time span differs from one country to another with consent it is less and without consent one or two years extra they are supposed to live separate and then they are allowed to seek decree of divorce. **In New Zealand**, separation for 3 years or more was a ground for making a petition to the court for divorce and the court was given a discretion (without guidelines) whether to grant the divorce or not. **In Scotland,** One year with consent or two years without consent. **In India,** at present there is no law relating to the Irretrievable breakdown of marriage but it has been strongly recommended by the Supreme Court of India to enact the law on irretrievable breakdown as a ground for divorce and Law Commission of India has recommended to the Parliament for three times to enact the law on the Irretrievable breakdown.

4. International marital status is to be given to the parties to the Marriage.
5. Cancelation and impounding the passport of party at fault (generally NRI husband) may help to save the innocent spouses reeling in pain. They are married but single.
6. Where passport of both spouses are of same country then the case may be heard there. If any party has passport of different country then other court should ask about consent of the other party having passport of different country.
7. Making registration of NRI marriage mandatory. If a party goes outside India for a considerable time period he or she should seek consent of the other spouse.
8. Precautions should be taken prior to the marriage in foreign country and Ministry of External Affairs has issued guidelines for avoiding such life threatening situations.
9. In modern society there is increase in divorcees and a few commendable features from the Muslim marriage institution may be adopted. In Muslim marriages an amount of Dower (mahr) amount is fixed at the time of marriage and person trying to flee from his matrimonial duties is liable to pay the amount to the destitute wife. Even Apex court ensures in matrimonial cases that female has received the amount for maintenance or not. For this an agreement mentioning a fixed amount deposited in the bank where female resides is to be deposited.

❑

Refrences

1. On 13th March, 1975, Chairman of 7th Law Commission of India received a letter with certain observations made by the Supreme Court of India in

Smt. Satya v. Teja Singh (A.I.R. 1975 S.C. 105), and had suggested that the Commission should examine the matter and in consequence thereof the 65th report was submitted on 05th April, 1976 by Mr. Justice Dr. P.B. Gajendragadkar, Chairman Seventh Law Commission (1974-1977).

2. Date of Judgment 09/07/1991 BENCH : SAWANT, P.B. BENCH: SAWANT, P.B. MISRA, RANGNATH (CJ) CITATION: 1991 SCR (2) 821; 1991 SCC (3) 451; JT 1991 (3) 33; 1991 SCALE (2)1.
3. *Y. Narasimha Rao and Ors. v. Y. Venkata Lakshmi and Anr.*, 1991 SCR (2) 821; 1991 SCC (3) 451; JT 1991 (3) 33; 1991 SCALE (2)1.
4. BENCH : SAWANT, P.B. BENCH: SAWANT, P.B. MISRA, RANGNATH (CJ)
5. A.I.R. 1975 S.C. 105.
6. Concluded on 1 June 1970 and entered into force 24 August 1975.
7. Hague Conference on Private International Law. Convention on Celebration and Recognition of the Validity of Marriages. The Hague, 1978.
8. http://hcch.e-vision.nl/index_en.php?act=conventions.status&cid=88. visited on 27 September 2018 at 09:00 pm.
9. Human Rights Watch. "Non-Discrimination in Civil Marriage: Perspectives from International Human Rights Law and Practice." New York, 2003.
10. http://hcch.e-vision.nl/index_en.php?act=conventions.status&cid=80 visited on 28 September 2018 at 09:00 am.
11. https://travel.state.gov/content/travel/en/international-travel/while-abroad/divorce-abroad/divorce-abroad-legal.html. visited on 28 September 2018 at 09:30 pm.

Priyanka Singh

Development of Legal aid Movment in India

The concept of equal justice was not unknown in ancient India. Manusmriti casts a duty on king to administer justice ignoring his whims. Emphasizing on the religion, Manu states that it includes administration of justice in social, economic and political aspects, whose sanctity has to be preserved and developed.

In the medieval period, though the king was required to administer Islamic law in deciding all cases irrespective of religion or the parties to the suit, yet Hindus were administered by Hindus. It was Jahangir who took the credit for dispensing even-handed justice to all irrespective of birth, rank of the official position. He used to say that God forbid to favor nobles or even princes in that matter of dispensation of justice. Because of his fair hearing, the justice was known as "Jahangir Nyaya".

In the modern period, the earliest Legal Aid movement appears to be the year 1851 when some enactment was introduced in France for providing legal assistance to the indigent. In Britain, the history of the organized efforts on the part of the State to provide legal services to the poor and needy dates back to 1944, when Lord Chancellor, Viscount Simon appointed sutcliffe Committee to enquire about the facilities existing in England and Wales for giving legal advice to the poor and to make recommendations as appear to be desirable for ensuring that persons in need of legal advice are provided the same by the state. The Committee also recommended four-tier machinery. (i) at Taluka (tehsil) level, (ii) at district level, (iii) at greater Bombay level and (iv) at State level.] for giving legal aid although the same could not be implemented due to certain reasons. In the same year, another Committee on "Legal Aid and Legal Advice" was appointed under the Chairmanship of Justice Arthur Trevor Harries, the then Chief Justice of Calcutta High Court. This Committee recommended giving legal assistance to the poor.

Since the fifties the Govt. of India also started addressing to the question of legal aid for the poor in various conferences of Law Ministers and Law Commission. In the sixties, some guidelines were drawn by the Govt. for legal aid schemes. In different States, legal aid schemes were floated through Legal Aid Boards, Societies and Law Departments. Since 1952, the Govt. of India also started addressing to the question of legal aid for the poor in various conferences of Law Ministers and Law Commissions. In 1980, a Committee at the national

level was constituted to oversee and supervise legal aid programmers throughout the country under the Chairmanship of Hon. Mr. Justice P.N. Bhagwati then a Judge of the Supreme Court of India. This Committee came to be known as CILAS (Committee for Implementing Legal Aid Schemes) and started monitoring legal aid activities throughout the country.

But significant change came in the late seventies. After **Maneka Gandhi v. UOI, AIR** 1978 SC 597, courts in India widened their perspective with respect to the civil liberties. While disclosing shocking state of affairs and callousness of our legal and judicial system causing enormous misery and sufferings to the poor and illiterate citizens resulting into totally unjustified deprivation of personal liberty justice P.N. Bhagwati, made following observations:-

"This unfortunate situation cries aloud for introduction of an adequate and comprehensive legal service programs, but so far, these cries do not seem to have evoked any response. We do not think it is possible to reach the benefits of the legal process to the poor to protect them against injustice and to secure to them their constitutional and statutory right unless there is a nation-wide legal service program to provide free legal services to them."

Law in India : refers to the system of law which presently operates in India. It is largely based on English common law because of the long period of British colonial influence during the period of the British Raj. Much of contemporary Indian law shows substantial European and American influence. Various legislations first introduced by the British are still in effect in their modified forms today. During the drafting of the Indian Constitution, laws from Ireland, the United States, Britain, and France were all synthesized to get a refined set of Indian laws, as it currently stands. Indian laws also adhere to the United Nations guidelines on human rights law and the environmental law. Certain international trade laws, such as those on intellectual property, are also enforced in India.

Indian family law is complex, with each religion having its own specific laws which they adhere to. In most States, registering of marriages and divorces is not compulsory. There are separate laws governing Hindus, Muslims, Christians, Sikhs and followers of other religions. The exception to this rule is in the state of Goa, where a Portuguese uniform civil code is in place, in which all religions have a common law regarding marriages, divorces and adoption.

Ancient India represented a distinct tradition of law, and had an historically independent school of legal theory and practice. The Arthashastra, dating back 400 BC and the Manusmriti, from 100 AD, were influential treatises in India. Manu's central philosophy was tolerance and pluralism, and was cited across Southeast Asia. Early in this period which finally culminated in the creation of the Gupta Empire, relations with ancient Greece and Rome were not infrequent. The appearance of similar fundamental institutions of international law in various parts of the world shows that they are inherent in international society, irrespective of culture and tradition. Inter-state relations in the pre-Islamic period resulted in clear-cut rules of warfare of a high humanitarian standard, in rules of neutrality, of treaty law, of customary law embodied in religious charters, in exchange of embassies of a temporary or semi-permanent character. When India became

part of the British Empire, there was a break in tradition, and Hindu and Islamic law was supplanted by the common law. As a result, the present judicial system of the country derives largely from the British system and has little correlation to the institutions of the pre-British era.

Indian law thus draws on a number of sources. The Hindu law system began with the Vedas and contemporary indigenous customs (i.e., not Indo-European) 3,000 years ago. Slowly, it evolved through blending, comparison, and analysis. After the Arab invasions in the 8th century, Islamic law was introduced in some areas, particularly in the north. The English common law is the residual law in the high courts of Bombay (now Mumbai), Calcutta (now Kolkata), and Madras (now Chennai); and, at times with the aid of relevant British statutes, it is the residual law also in all other jurisdictions representing the old East India Company's courts, in which, since 1781, "justice, equity and good conscience" have supplied the rule of law when on Indian statute or rule of personal law (e.g., Hindu law) covered the point The Portuguese and French used their own laws in their colonies. In British India, some British statutes applied, and a few have remained in force. All powers adapted their laws to local conditions, and the famous Anglo-Indian codes, passed in India at intervals from 1860 to 1882, reflected the influence of French and American as well as English and Anglo-Indian models. During that period, Roman, or civil, law and continental juridical theory were widely cited, particularly in the Madras High Court, to give India the benefit of the best law available; but through Codification and other influences this source was soon exhausted. Interpretation of the constitution has resulted in the introduction of some American principles, and welfare and industrial statutes are construed in the light of case law decided elsewhere in the Commonwealth. Western influence is also present in the treatment of personal law.

Whatever standards a man chooses to set for himself, be they religious, moral, social or purely rational in origin, it is the law which prescribes and governs his rights and duties towards the other members of the community. This somewhat arbitrary collection of principles he has very largely to take as he finds and in a modern society it tends to be so diverse and complex that the help of an expert is often essential not merely to enforce or defend legal rights but to recognize, identify and define them."

The Encyclopedia Britannica defines 'legal aid' as a phrase which is acquired by usage and court decisions, a specific meaning of giving to a person of limited means grants or for nominal fees, advice or counsel to represent them in court in civil and criminal matters. Inability to consult or to be represented by a lawyer may amount to the same thing as being deprived of the security of law. "Rawls first principle of justice is that each person is to have an equal right to the most extensive total system of equal basic liberties compatible with a similar system of liberties for all." Legal Aid is the method adopted to ensure that no one is debarred from professional advice and help because of lack of funds.

Thus, the provisions of legal aid to the poor are based on humanitarian considerations and the main aim of these provisions is to help the poverty-stricken

people who are socially and economically backward. Lord Denning, while observing that Legal Aid is a system of government funding for those who cannot afford to pay for advice, assistance and representation said : "The greatest revolution in the law since the post-second World has been the evolution of the mechanism of the system for legal aid."

Humanism, which is the source and strength of legality, is writ large in the theme of legal services to the poor in that part of our planet where backwardness and indigence have struck the hardest blow through the legal process itself on the lowly and the lost. "After Independence, schemes of legal aid were developed under the aegis of justice N.H. Bhagwati, then of Bombay High Court and Justice Trevore Harris of Calcutta High Court." The matter of legal aid was also referred to the Law Commission to make recommendations for making the legal aid program an effective instrument for rendering social justice.

Coming up with recommendation in its XIV report, under the leadership of leading jurist M.C. Setalvad, the Low Commission opined that free legal aid is a service which should be provided by the State to the poor. The State must, while accepting the obligation, make provision for funds to provide legal aid. The legal community must play a pivotal role in accepting the responsibility for the administration and working of the legal aid scheme. It owes a moral and social obligation and therefore the Bar Association should take a step forward in rendering legal aid voluntarily.

These would include representation by lawyers at government expenses to accused persons in criminal proceedings, in jails, and appeals. "The Commission also recommended the substitution in Order XXXIII, Civil Procedure Code of the word 'pauper' with 'poor persons'." Acting on the recommendations of the Law Commission, the Government of India in 1960 prepared a national scheme of legal aid providing for legal aid in all courts including tribunals. It envisaged the establishment of committees at the State District and Tehsil level. However, due to the inability of State to implement the scheme because of lack of finances, the scheme did not survive.

The judicial attitude towards legal aid was not very progressive. In **Janardhan Reddy v. State of Hyderabad** and **Tara Singh v State v State of Punjab,** the Court, while taking a very restrictive interpretation of statutory provisions giving a person the right to lawyer, opined that this was, "a privilege given to accused and it is his duty to ask for a lawyer if he wants to engage one or get his relations to engage one for him. The only duty cast on the Magistrate is to afford him the necessary opportunity (to do so)." Even in capital punishment cases the early Supreme Court seemed relentless when it declared that "it cannot be laid down in every capital case where the accused is unrepresented the trial is vitiated."

Thus it can be pointed out that newly Independent India was not clear about the broad perspective of its legal aid programmer For again trying to revive the programmer, the Government of India formed an expert committee, the Krishna lyre Committee in 1973 to see as to how the states should go about devising and elaborating the legal aid scheme. The committee came out with the most

systematic and elaborates statement regarding establishment of legal aid committees in each district, at state level and at the Centre, It was also suggested that an autonomous corporation be set up, law clinics be established in Universities and lawyers be urged to help.

Legal Aid implies giving free legal services to the poor and needy who cannot afford the services of a lawyer for the conduct of a case or a legal proceeding in any court, tribunal or before an authority. The earliest Legal Aid movement appears to be of the year 1851 when some enactment was introduced in France for providing legal assistance to the indigent. In Britain, the history of the organized efforts on the part of the State to provide legal services to the poor and needy dates back to 1944, when Lord Chancellor, Viscount Simon appointed Sutcliffe Committee to enquire about the facilities existing in England and Wales for giving legal advice to the poor and to make recommendations as appear to be desirable for ensuring that persons in need of legal advice are provided the same by the State.

Through Legal aid. In an effort is made to put together all the practical information of law on a portal, particularly keeping in view an ordinary person' day-to-day legal problems. Apart from providing legal information, this site is also designed to provide free legal aid to the needy and disadvantaged groups who otherwise are unable to fight and sponsor their legal disputes. It is also a platform where people can share their views on the working and effectiveness of legal system operating in different environments, the type of justice that a citizen gets vis-à-vis his expectation and various other law-related issues. We appeal to the users to make maximum use of the message board in order to make the site more meaningful and dynamic in its reach and objective.

❑

References

1. Roma Mukherjee – Women Law and Free Legal Aid in India, Vedams Books, Delhi.
2. Public Interest Litigation – Legal Aid and Lok Adalats, Mamta Rao, Eastern Book Company.
3. Justice N.H. Bhagwati and Justice Trevore Harris of Calcutta, Law as struggle : Public Interest litigation in India, Rajeev Dhawan Ed., 36 JILI 325 1994.
4. N.R. Madhava Menon, legal Aid and Justice for the Poor, Pp 344
5. Tayal, B.B. & Jacob, A. (2005), Indian History, World Developments and Civics, Pg. A-25